

जन्म		स्वर्गवास
अम्बाला छावनी	**लाला राजकृष्ण जैन**	देहली
१०-११-१९००	१ दरियागंज, देहली	४-२-७३

अध्यात्म तरंगिणी

(योग-शास्त्र)

सोमदेवाचार्य

(गणधरकीर्ति विरचित संस्कृत टीका)

हिन्दी टीकाकार

पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य

प्रकाशक

अहिंसा-मन्दिर-प्रकाशन

१, दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक
राजकृष्ण जैन
अहिंसा-मन्दिर-प्रकाशन
१, दरियागज, दिल्ली

प्रथमावृत्ति
मूल्य सजिल्द प्रति २)

मुद्रक—नया हिन्दुस्तान प्रेस, चाँदनी चौक, दिल्ली

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य सोमदेव बडे उच्चकोटि के साहित्यिक विद्वान् और राजनीति के प्रकाण्ड पडित थे। उनकी यह रचना सक्षिप्त और सुन्दर कृति है। ग्रन्थ का मूल भाग 'अध्यात्म तरगिणी' के नाम से माणिकचन्द ग्रन्थ माला के तत्त्वानुशासनादि सग्रह मे प्रकाशित हुआ है। परन्तु गणधरकीर्ति कृत सस्कृत टीका अभी तक प्रकाशित नही हुई थी। अनेकान्त के १२वें वर्ष की प्रथम किरण मे प० परमानन्द शास्त्री ने इसका परिचय दिया था और श्री मुख्तार जुगलकिशोर जी वीर-सेवा-मन्दिर की ओर से उसे प्रकाशित करना चाहते थे। पर वहाँ प्रकाशन मे अत्यधिक विलम्ब होने से पूज्य मुख्तार साहब ने इसे मुझे प्रकाशित करने की प्रेरणा की और मैंने उसे सहर्ष प्रकाशित करना स्वीकार किया। परिणामस्वरूप यह ग्रथ प्रकाश में आ रहा है।

ग्रन्थ का असली नाम योग-मार्ग जान पडता है, क्योकि इसमे ध्यान और उनके भेदो की विस्तृत चर्चा की है। मुझे विश्वास है कि यह ग्रथ मुमुक्षुओ के लिए बहुत उपयोगी होगा। ग्रन्थ का विषय परिचय हिन्दी टीकाकार तथा प्रस्तावना लेखक पं० परमानन्द जी ने दे दिया है।

मैं श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार का पुन. आभार मानता हूँ और आशा करता हूँ कि अन्य अप्रकाशित ग्रथ भी अहिंसा-मन्दिर को प्रकाशित करने के लिए प्रदान करेंगे।

—राजकृष्ण जैन

विषय-सूची

अपनी बात

अपने जीवन के समस्त क्षण साहित्य-साधना मे व्यतीत करने वाले श्री जुगलकिशोर जी मुख्त्यार से समस्त जैन समाज सुपरिचित है। वीर सेवा-मन्दिर देहली मे 'स्तुति विद्या' प्रकाशित होने के बाद आपने मुझे आचार्य सोमदेव की अध्यात्मामृत-तरङ्गिणी का हिन्दी अनुवाद कर देने के लिए लिखा और मेरी स्वीकृति पहुँचने पर आपने एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति आचार्य गणधकीर्त्ति की सस्कृत टीका के साथ भेज दी। मूल श्लोक माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई मे एक सग्रह मे प्रकाशित हुये थे उन्हें भी आपने भेजा। आपने लिखा था कि इसकी एक ही प्रति समस्त भन्डारो की छान-बीन करने पर मिली है। इस प्रति का लेखन काल १५३३ सवत् आसौज सुदी-२ था और वह हिसार पेरोजा मे लिखी गई थी। लेखक सस्कृतज्ञ जान पडता था इसलिए अशुद्धियाँ प्रायः कम थी। फिर भी एक प्रति के आधार पर किसी ग्रन्थ का सम्पादन करने मे जो कठिनाई उठानी पडती है उसका अनुभव मुझे पूरा हुआ। सही पाठ के चिन्तन में पर्याप्त श्रम करना पडा। इस प्रति का नाम मैंने 'क' रक्खा था। प्रति का पूरा परिचय लिख कर रख लिया था, पर यह लेख लिखते समय वह मिल नही सका, अतः सक्षिप्त नोट कापी से लेखन काल और लेखन स्थान ही लिखा जा सका।

समग्र ग्रन्थ की पाण्डुलिपि स्वयं तैयार की और उसके बाद हिन्दी अनुवाद में हाथ लगाया। मूलप्रति के पाठ इस सस्करण मे सुरक्षित रक्खे गये हैं, जो अशुद्ध पाठ हैं उनके शुद्ध पाठ कोष्ठक मे उनके साथ दिए हुये हैं। ग्रन्थ तैयार होने के बाद जब श्री मुख्त्यार जी के पास भेज दिया गया तब उन्हे श्री अतिशय क्षेत्र महावीर जी से इसकी एक प्रति और मिली जिसे उन्होंने हमारे पास भेजते हुये लिखा कि इस प्रति के

आधार पर यदि कुछ परिवर्तन करना हो तो कर लीजिये। इस प्रति में १२+५ साइज के ३२ पत्र है और प्रतिपत्र मे १६ पक्तियाँ तथा प्रति पक्ति मे ४५-४७ अक्षर है। लिपि सवत् नही है। लेख सुवाच्य हैं। प्रथम पत्र नही है तथा द्वितीय पत्र भी जीर्ण हो चला है। इसका साकेतिक नाम 'ख' रक्खा गया। 'त' प्रति की अपेक्षा पाठ प्राय अशुद्ध ही थे इसलिये पुन मिलान करने पर कोई खास परिवर्तन की आवश्यकता नही हुई। फिर भी यत्र तत्र उसके पाठो का सकलन कर लिया गया। इस तरह इस ग्रन्थ का सम्पादन हस्तलिखित और एक मुद्रित मूलप्रति के आधार पर हुआ है।

मूल रचना आचार्य सोमदेव की है आप बहुश्रुत विद्वान थे। समग्र विषयो पर आपका पूर्ण अधिकार था। 'यशस्तिलक चम्पू' और 'नीति वाक्यामृत' के दर्शन से आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का पता सहज ही चल जाता है। सोमदेव के इस मूल ग्रन्थ का नाम 'ध्यान विधि' है। इसमें ध्यान और उसके भेद तथा विधि आदिका स्पष्ट वर्णन किया गया है। श्री गणधरकीर्ति आचार्य ने इस पर 'अध्यात्मामृत तरङ्गिणी'[1] नाम की सस्कृत टीका लिखी। इस टीका का दूसरा सक्षिप्त नाम अध्यात्म तरङ्गिणी[1] है। इसी नाम से यह ग्रन्थ मुद्रित हुआ है परन्तु

---

१ तथ्यात्माद्यर्थसवादाध्यात्मामृततरङ्गिणीम्।
सोमदेव ध्यानविधौ गणधरकीर्तिर्व्यधात्॥१५॥ टीका कर्तृप्रशस्ति,
गुणिगणधरकीर्तिः सोमसेनोपरोधा—
दकृत विकृति दोषाध्वान्त विध्वसकर्त्रीम्।
दिन मणि रुचिभावा भासितार्थां सुटीकां।
श्रुतममृत-तरङ्गिण्याख्ययाध्यात्म पूर्वाम् ॥६॥ टीका प्रारम्भिक श्लोक।

(श्री) सोमसेनप्रतिबोधनार्थं धर्माभिधानोच्च यशः स्थिरार्थाः।
गूढार्थ संदेह हरा प्रशस्ता टीका कृताध्यात्मतरङ्गिणीयम् ॥२॥
टीका कर्तृ प्रशस्ति।

तरङ्गिणी शब्द की सार्थकता अध्यात्मामृत-तरङ्गिणी नाम से ही सिद्ध होती है। इसलिए मुखपृष्ठ पर इसका 'अध्यात्मामृत तरङ्गिणी' नाम अंकित किया गया है।

मूल ग्रन्थ की भाषा पाण्डित्य पूर्ण है और उस पर टीकाकार श्री गणधर-कीर्ति ने भी सोमसेन के सम्बोधनार्थ पाण्डित्य पूर्ण भाषा मे ही अध्यात्मामृत तरङ्गिणी नाम की टीका लिखी है। प्रत्येक श्लोको के प्रारम्भ मे उपोद्घात के रूप मे टीकाकार ने जो गद्य लिखी है उसमे उन के भाषा विषयक वैदुष्य का स्पष्ट पता चलता है। टीका मे खण्डान्वय की पद्धति अपनाई गई है और श्लोक गत समस्त पदों की व्याख्या के बाद स्पष्टीकरण के रूप मे कुछ पंक्तियाँ लिखी है। कितने ही श्लोकों की टीका मे प्रसङ्गोपात्त केवलिकवलाहार, स्त्री-मुक्ति तथा चार्वाक् दर्शन आदि विषयो की भी अच्छी चर्चा की है। अन्त मे प्रशस्ति के रूप मे टीका-कार ने अपनी गुरु परम्परा भी दी है। उन्होने लिखा है कि गुर्जर देश में 'वरवट वटपल्ली' नाम की नगरी थी उसमे 'सागर नन्दी' नाम के गुरु थे। उनके 'स्वर्णनन्दी' नामक शिष्य हुए, उनके 'पद्मनन्दी', पद्मनन्दी के पुष्पदन्त और पुष्पदन्त के 'कुवलय चन्द्र' शिष्य हुए। कुवलय चन्द्र के 'गणधर कीर्ति' हुए। इन्हीं गणधर कीर्ति ने सम्वत् ११८९ के चैत्र-शुक्ला पञ्चमी रविवार के दिन इस टीका की रचना की है। उन्होने यह टीका जयसिंह देव के राज्य में रची थी।

संस्कृत टीकाकार ने कितने ही दार्शनिक विषयो का विवेचन करते समय आचार्य प्रभाचन्द्र के प्रमेय-कमल-मार्तण्ड से सामग्री ली है यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

यह हिन्दी टीका संस्कृत टीका का अविकल अनुवाद नही है क्योंकि खन्डान्वयी टीका के अनुसार अनुवाद करने पर हिन्दी का आधुनिक रूप सुरक्षित रख सकना सम्भव नहीं था। अत. टीका का भाव लेकर हिन्दी टीका लिखी गई। इसमें प्रारम्भ में श्लोक का अर्थ दिया गया है और उसके बाद विशेषार्थ के रूप में संस्कृत टीका के आधार पर विवेचन

किया गया है। कितने ही दार्शनिक विषयो का स्पष्टीकरण करने के लिए प्रश्न उत्तर की पद्धति भी अपनाई गई है।

यह हिन्दी अनुवाद २४७६ वीर निर्वाण सम्वत् मे तैयार हो चुका था तब से श्री मुख्त्यार जी के पास पडा-पडा अब उनकी सम्मति से 'अहिंसा मन्दिर' देहली से प्रकाशित हो रहा है। ग्रन्थ मे स्वाध्याय की बहुत सामग्री निहित है इसलिए स्वाध्याय प्रेमी इससे लाभ उठावें यह आकाक्षा है।

साहित्य-सेवा का मुझे व्यसन है अत नियमित दिनचर्या के भीतर मुझे जो कुछ भी थोडा बहुत समय मिलता है उसका उपयोग मै इसी साधना मे करता हूँ और उसी का फल है कि दस पाच ग्रन्थ मै तैयार कर सका हूँ। बुद्धि पूर्वक प्रयत्न तो यही करता हूँ कि मेरे द्वारा जिनवाणी की उपासना मे प्रमाद न हो और कोई त्रुटि ऐसी न रह जाए जो विपरीत अर्थ को आश्रय देने वाली हो। फिर त्रुटियो का रह जाना सब तरह सम्भव है अत विद्वज्जन उन त्रुटियो को सुधारते हुए मुझे क्षमा प्रदान करे, यह प्रार्थना है। श्री जुगलकिशोर जी मुख्त्यार की प्रेरणा और श्री राजकृष्ण जी के औदार्य से यह ग्रन्थ जिज्ञासुओ के सामने आ रहा है इसलिए दोनो महानुभावों का आभारी हूँ। प० परमानन्द जी शास्त्री हमारे सहपाठी और मित्र है। हमारे प्रत्येक साहित्यिक कार्य मे हमे उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहता है अतः उनके सहयोग को मैं कभी भूल नहीं सकता।

सागर
२५ नवम्बर १९६० ई०

विनीत
पन्नालाल जैन

प्रस्तावना

ग्रन्थनाम

इस ग्रथ का नाम 'अध्यात्म तरगिणी' छपा है और माणिकचन्द ग्रथमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित 'तत्त्वानुशासनादिसग्रह मे भी इसका नाम 'अध्यात्मतरगिणी' ही मुद्रित हुआ है[1]। परन्तु मूल ग्रन्थकर्ता ने कही भी इसका नाम अध्यात्मतरगिणी प्रकट नही किया। और सस्कृत टीकाकार गणधर कीर्ति ने भी मूल ग्रन्थ का उक्त नाम नही बतलाया किन्तु अपनी टीका का नाम अध्यात्मतरगिणी या अध्यात्मामृत तरगिणी अवश्य प्रकट किया है। जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है —

"दिन मणि रुचिभावा भासितार्था सुटीका।
श्रुतममृततरङ्गिण्याख्याध्यात्म पूर्वाम्॥"

ऐसी स्थिति मे ग्रथ का नाम अध्यात्मतरङ्गिणी कैसे कहा जा सकता है। तब यह प्रश्न स्वभावत. उत्पन्न होता है कि मूल ग्रन्थ का नाम क्या है? श्री प० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने जैन साहित्य और इतिहास के पृष्ठ १७८ की टिप्पणी मे इसका दूसरा नाम 'योगमार्ग' बतलाया है[2] और यह सम्भावना भी की है कि 'अध्यात्मतरङ्गिणी या योगमार्ग 'षण्णवति प्रकरण' का ही एक भाग होगा। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस ग्रथ को योगमार्ग भी कहा जाता था। जब हम मूल ग्रथ के प्रथम पद्य का विचार करते है जिसमें आदिनाथ तीर्थकर की योग-मुद्रा का स्वरूप अंकित किया गया है, संस्कृत टीकाकार की प्रथम

---

१. इति सोमदेवाचार्य प्रणीताऽध्ययात्म तरंगिणी समाप्त।

१. इसका दूसरा नाम योग मार्ग भी है, जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १७८।

श्लोक की उत्थानिका वाक्य से भी—'आदि देव स्तुत्यं योग मुद्रामुन्मुद्रितवानित्याह' योगी की योग-मुद्रा का विवेचन करना स्पष्ट है। और उस योगी से अनन्त चतुष्टय रूप सम्प्रदाओं के प्रदान करने की कामना की गई है। तथा आगे ग्रंथ में उसी योग-मुद्रा और योगमार्ग का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। इससे मूल ग्रंथ का नाम 'योगमार्ग' सार्थक जान पड़ता है और टीका का नाम अध्यात्मतरङ्गिणी मालूम होता है टीका के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम अध्यात्म तरंगिणी हुआ है।

ग्रन्थ परिचय .

यह संस्कृत भाषा का छोटा सा ग्रंथ है जिसकी श्लोक संख्या चालीस है। इन पद्यों में योगी आदिनाथ की योग-मुद्रा का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए आत्म-विकास के कारणभूत आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का संक्षिप्त एवं सरस वर्णन किया है, जो प्रमेय बहुल है। उस योगमार्ग का जीवन में अनुष्ठान करने से आत्मा परमात्मा हो जाता है।

ग्रन्थ मे भगवान आदिनाथ को, नीलांजना नामक अप्सरा के नृत्य करते समय एकाएक उसकी आयु पूरी हो जाने के कारण संसार-देह-भोगों से वैराग्य हो गया, और उन्होंने जैन योग-मुद्रा धारण कर आत्मध्यान का अनुष्ठान किया। ग्रन्थकार ने उनकी उस समय की योग-मुद्रा का स्वरूप अंकित करने का प्रयत्न किया है। आदि-ब्रह्मा या आदीश्वर पद्मासन-स्थ हैं, कायोत्सर्ग आसन से युक्त हैं, नासाग्रदृष्टि हैं, जिनकी दोनों भुजाएँ नीचे को लटक रही हैं और जिनके दोनों नेत्र कमल निमेष रहित हैं। श्वास को जिन्होंने जीत लिया है और जिन्होंने कुवासनाओं को सुखा दिया है, जो देह-भोगों में अत्यन्त उदासीन हैं, समाधि में विलीन हैं और शत्रु-मित्र मे समभाव को लिए हुए हैं, ऐसे वे योगी रम-णीय आत्मीय अद्भुत रस में निमग्न हैं। उनकी वह योगमुद्रा अद्भुत

सौम्य, गंभीर और दर्शकों के लिए आनन्द-विभोर करती हुई उनमें योगानुष्ठान द्वारा जिन, परमात्मा या परमेष्ठी बनने की क्षमता को ही उद्घोषित नहीं करती; प्रत्युत उसकी महत्ता एवं प्रभाव को भी हृदय-पटल पर अंकित करती है।

योग-मुद्रा में स्थित योगी सांसारिक व्यापारों से अत्यत दूर और शारीरिक क्रियाओं से भी निस्पृह एवं निश्चेष्ट रहता है। वह उस समय में आत्म-लोक में विचरण करता है। उसका उपयोग आत्मस्वरूप में निष्ठ होने के कारण बाह्य जगत के विकल्पों से शून्य निजानन्द-रस में तन्मय रहता है। और अपने को अबद्ध स्पष्टादि विशेषणों से युक्त एक अखंड अविनाशी अद्वितीय चैतन्यभाव का अनुभव करता है।

टीका

इस ग्रथ पर एक ही संस्कृत टीका उपलब्ध है, जो इस सस्करण में दी गई है। जिसके कर्ता मुनिगणधरकीर्ति है। टीका में पद्यगत वाक्यों एवं शब्दों के सामान्य अर्थ के साथ-साथ कहीं-कही उसके विषय को भी स्पष्ट किया गया है। विषय को स्पष्ट करते हुए कही-कही प्रमाण रूप में समन्तभद्र, अकलक और विद्यानन्दादि आचार्यों के नामो तथा ग्रथो का उल्लेख किया गया है। टीका अपने विषय की स्पष्ट विवेचक है। टीकाकार ने विषय को हृदयंगम कराने के लिए देवनन्दी की 'सर्वार्थ सिद्धि' का पर्याप्त आश्रय कर सुन्दर विवेचन किया है। १९ वे पद्य की टीका करते हुए टीकाकार ने 'पृथक्त्व-वितर्क-वीचार' नाम का पहला शुक्लध्यान चतुर्थकालादि की अपेक्षा अन्य जीवो के भी हो सकता है। इसका कथन करते हुए लिखा है कि—'पूर्वापर विदेह में उत्पन्न विशुद्ध लेश्या के धारक, कीलित-संहननवाले मनुष्य के भी कदाचित् प्रथम शुक्ल ध्यान संभव हो सकता है।' इस तरह टीका जहां स्पष्ट और परिपूर्ण है, वहाँ गूढ़ अर्थ और सन्देह को दूर करने वाली है।

इस टीका की तीन प्रतियाँ इस समय उपलब्ध हैं एक ऐलक पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन झालरापाटन मे और दूसरी प्रति अजमेर के भ० हर्षकीर्ति के बडे मदिर के शास्त्र-भडार मे श्री मुख्तार साहब को प्राप्त हुई थी और तीसरी प्रति पाटन के श्वेताम्बरीय शास्त्र भंडार मे है। परतु वहा वह प्रति कुछ खडित रूप में पाई जाती है। उसकी आदि अन्त प्रशस्ति भी खडित है। अन्वेषण करने पर अन्य ग्रन्थ भडारो में भी इसकी प्रतिया मिल सकती हैं। किन्तु झालरापाटन की प्रति वि० स० १५३३ आश्विन शुक्ला दोयज के दिन हिसार में (पेरोज पत्तन में) लिखी गई है। जिसे सुनामपुर के वासी, खडेलवाल वंशी, सघाधिपति श्रावक 'कल्हू' के चार पुत्रो मे से प्रथम पुत्र धीरा की पत्नी धनश्री के के द्वारा, जो श्रावकधर्म का अनुष्ठान करती थी, अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ लिखाकर तात्कालिक भट्टारक जिनचन्द्र के अन्यतम शिष्य प० मेधावी को सवत् १५३३ में प्रदान की गई है।[१] इससे यह प्रति ५०० वर्ष के लगभग पुरानी है यह प्रति हिसार में उक्त संवत् मे कुतुब खाँ (कद्दन खा) के राज्य-काल में लिखी गई है।

मूल ग्रन्थकार

आचार्य सोमदेव देवसघ के विद्वान थे। देवसघ लोक में प्रसिद्ध है। इस सघ मे अनेक विद्वान हो गए हैं। भट्ट अकलंक देव भी इसी सघ के मान्य विद्वान थे। यशोदेव और नेमिदेव और महेन्द्रदेव आदि देवान्तनाम

---

१. स० १५३३ वर्षे आसोज सुदि २ दिने हिसार पेरोजपत्तने लिखित मिति।

श्रियं क्रिययान्नरामर्त्य नाग पार्श्वं पदाम्बुजः।
देवोऽध्यात्म तरगिण्या, शास्त्रदातु जिनोऽनघां ॥१॥
त्रयस्त्रिंशाधिके वर्षे शत पंच दश प्रमो।
शुक्ल पक्षेऽश्वने माने द्वितीयां सुवासरे ॥२॥

इसी देवसंघ के द्योतक हैं। आचार्य सोमदेव ने स्वयं यशस्तिलकचम्पू के निम्नपद्य मे अपने गुरू नेमिदेव को देवसंघ का तिलक और सद्गुणनिधि बतलाते हुए उन्हें ९३ वादियों का जीतने वाला प्रकट किया है—

श्रीमानस्ति देवसंघ॰ तिलको देवो यश पूर्वक॰ ।
शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधि श्रीनेमिदेवाह्वयः ।
तस्याश्चर्यं तप. स्थिते स्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिना ।
शिष्यो भूदिह सोमदेव यतिपस्तस्यैव काव्यक्रमः।।

किन्तु नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति मे उन्हें ५५ वादियो को जीतने वाला प्रकट किया है।[1] इससे यह सुनिश्चित है कि उस समय तक नेमिदेव ने ५५ वादियो को बाद में जीता था। और यशस्तिलक के समय तक उन्होंने ९३ वादियों को को जीत लिया था। इससे नीतिवाक्यामृतकी रचना पहले हुई जान पडती है। इससे वे उस समय के विशिष्ट तार्किक विद्वान जान पडते है। परभणी के दानपत्र मे नेमिदेव को की 'स्याद्वाद रत्नाकर पारदृष्टा और पर वादियो के दर्प रूपी द्रुमावली को छेदने के लिए 'कुठार नेमि' प्रकट किया है।[2] वे परम तपस्वी और प्रसिद्ध वक्ता थे। आपके गुरू यशोदेव भी उच्चकोटि के विद्वान और यशस्वी साधु थे। आचार्य सोमदेव इन्ही नेमिदेव के शिष्य थे तथा वादीन्द्र कालानल श्री महेन्द्रदेव भट्टारक के अनुज थे। स्याद्वादाचलसिंह, तार्किकचक्रवर्ती, वादीभ-पचानन, वाक्कलेल पयोनिधि और कविकुलराज आदि आपकी उपाधियाँ

१. सकल तार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य पच पंचाशन्महावादि विजयोपार्जित कीर्तिमन्दाकिनी पवित्रित त्रिभुवनस्य, परम तपश्चरण-रत्नोदन्वत: श्रीमन्नेमिदेव भगवत:' । नीति वाक्यामृत प्रशस्ति

—नीति वाक्यामृतप्रशस्ति

२. शिष्यो भवत्तस्य महर्द्धिभाज॰ स्याद्वादरत्नाकरपारदृश्वा ।
श्रीनेमिदेवः परिवादिदर्पा द्रुमावलिच्छेद कुठार नेमिः ॥११॥

—परभणी ताम्रपत्र

थी। आपका सस्कृत भाषा पर विशेष अधिकार था। न्याय, व्याकरण, काव्य, छन्द, धर्म, आचार और राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित थे। महाकवि, धर्मशास्त्रज्ञ और प्रसिद्ध दार्शनिक थे।

दानपत्र मे आचार्य सोमदेव को 'गौड संघ' का विद्वान सूचित किया है।[1] हो सकता है कि गौडसंघ देवसघ की ही एक शाखा हो अथवा वह एक स्वतत्र सघ के रूप में अपना अस्तित्व रखता हो। अनेक संघ और गण-गच्छो का निर्माण लोक में ग्रामादिक के नामों से हुआ है। आचार्य सोमदेव केवल काव्य मर्मज्ञ ही न थे, किन्तु भारतीय काव्य-ग्रंथों के विशिष्ट अध्येता भी थे। और थे राजनीति के कुशल आचार्य, 'यशस्तिलक चम्पू' मे आपकी नैसर्गिक एव निखरी हुई काव्यप्रतिभा का पद-पद पर अनुभव होता है, वे महाकवि थे और काव्य-कला पर पूरा अधिकार रखते थे। यशस्तिलक मे जहा उनकी काव्य-कला का निदर्शन होता है वहां तीसरे अध्याय में राजनीति का, और ग्रन्थ के अन्त में धर्माचार्य एवं दार्शनिक होने का परिचय मिलता है। नीतिवाक्यामृत तो शुद्ध राजनीति का ग्रन्थ है ही, यह ग्रन्थ चाणक्य के अर्थशास्त्र और कामन्दक के नीति शास्त्र के बाद अपनी सानी नही रखता। उसकी महत्ता का मूल्यांकन वे ही कर सकते हैं जो राजनीति के चतुर पण्डित हैं। उन्होने यशस्तिलक चम्पू की उत्थानिका मे स्वयं लिखा है कि—'मेरी बुद्धि रूपी गौ ने जीवन भर तर्क रूपी सूखी घास खाई है, परन्तु उसी गौ से सज्जनों के पुण्य के कारण यह काव्यरूपी दूध उत्पन्न हो रहा है।[2]

---

१. श्री गौडसंघे मुनि मान्यकीर्तिर्नाम्ना यशोदेव इति प्रजज्ञे।
बभूव यस्योग्र तपः प्रभावात्समागमः शासन देवताभिः ॥१५॥
—परभणी ताम्रपात्र

२ आजन्म कृतदभ्यासाच्छुष्कात्तर्कां तृणादिव ममास्याः।
मतिसुरभेरवदिद सूक्ति-पयः सुकृतिनां पुण्यैः ॥

कवि ने अपने व्यवहार के सम्बन्ध मे स्वय निम्न सूचना दी है— मैं छोटो के साथ अनुग्रह, बराबरी वालो के साथ सुजनता और बडो के साथ महान् आदर का वर्ताव करता हूँ। इस विषय मे मेरा चरित बहुत ही उदार हैं; किन्तु जो मुझे ऐंठ दिखलाता है उसके लिए गर्व रूपी पर्वत को विध्वश करने वाले मेरे वज्र-वचन कालस्वरूप हो जाते हैं*। वे अहकारी पडित रूप गजो के लिए सिह के समान ललकारनेवाले, वादि-गजों को दलित करने वाले और दुर्धर विवाद करने वाले श्री सोम-देव मुनि के सामने वाद के समय वागीश्वर या देवगुरु वृहस्पति भी नहीं ठहर सकते[1]।

सोमदेव यद्यपि नग्न मुनि थे, ध्यानाध्ययन तथा तपश्चरण मे सुदृढ थे। परन्तु ऐसा जान पडता है कि वे उस समय मठवास को पसन्द करने लगे थे; क्योकि दानपत्र मे उनका पूजोपहार आदि का दान लेने का उल्लेख पाया जाता है। उस समय चैत्यवास या मठवास की प्रवृत्ति जोर पकडती जा रही थी। यद्यपि मुनि चर्या मे तब तक कोई खास अन्तर नही आया था, किन्तु साधु जन वनवास छोडकर नगर के समीप बसने लगे थे। आचार्य गुणभद्र ने तो ग्राम के समीप बसने वाले तपस्वियो की प्रवृत्ति पर अपना खेद व्यक्त किया है[2]।

---

* अल्पेऽनुग्रह धीः समे सुजनता मान्ये महानादरः,
सिद्धान्तोऽयमुदात्त चित्र चरिते श्री सोमदेवे मयि।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढता प्रौढि प्रगाढाग्रह–
स्तस्या खर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते ॥—यश०

१. दर्पान्धबोधबुधसिन्धुर सिहनादे, वादिद्विपोद्दलन दुर्धरवाग्विवादे।
श्री सोमदेव मुनिपे वचना रसाले, वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले। —यश०

२. इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथामृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं, कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ आत्मानुशा० १९७

अन्य कृतियाँ

यशस्तिलक-चम्पू एक गद्य-पद्य मय चम्पू काव्य है, उसमें जहाँ संस्कृत भाषा के दुर्लभ एव महत्वपूर्ण शब्दो का प्रयोग किया गया है वहाँ वह विलक्षण सूक्तियो और सुभाषित रत्नो का भी एक कोष है। उसकी मनोहर सूक्तियाँ कविजनो के आनद और विस्मय का कारण बनी हुई है, ग्रथ मे राजा यशोधर और चन्द्रमती का जीवन परिचय बड़ी खूबी के साथ अकित किया है उसे पढकर और मनन कर हृदय हिंसा से पराङ्-मुख हो जाता है और वह अहिंसा की सरस धारा मे अवगाहन करने लगता है।

सोमदेव ने अपना यशस्तिलक चम्पू उस समय समाप्त किया था जब शक सवत् ८८१ (वि० श० १०१६) मे सिद्धार्थ सवत्सरान्तर्गत चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन श्री कृष्णदेव (तृतीय) जो राष्ट्रकूटवंश के राजा अमोघ वर्ष के तृतीय पुत्र थे, जिनका दूसरा नाम 'अकाल वर्ष' था, और जो उस समय पाण्ड्य, सिंहल, चोल और चेर आदि राजाओं को जीतकर मेल्पाटी[1] (मेलाडी नामक गाव) के सेना शिविर में विद्यमान थे। उस समय उनके चरण कमलोपजीवी सामन्त वद्यग की, जो चालुक्यवशीय राजा अरिकेसरी के प्रथम पुत्र थे—गगधारा नगरी में उक्त ग्रथ समाप्त हुआ था[2]।

शक संवत् ८८८ (वि० सं० १०२३) के अरिकेसरी वाले दानपत्र से, जो उनके पिता वद्यग देव द्वारा लेंबुल पाटक राजधानी में बनवाए हुए शुभधाम जिनालय की मरम्मत, चूने की कलई करने और पूजोपहार चढ़ाने के लिए सब्बिदेश सहस्रांतर्गत रेपाक द्वादशों में वनिकटुपुल नाम

---

१. मेलपाटी नाम का गांव जो उत्तर अर्काट जिले के वांदिवाषतालुके में है। शक सं० ८८० के करहाड़ ताम्रपत्र से भी राष्ट्रकूट राजाकृष्ण तृतीय का सेना शिविर वहा था यह ज्ञात होता है।

२. देखो, यशस्तिलक चम्पू की अन्तिम प्रशस्ति।

का गाव आचार्य सोमदेव को दिया गया था। उससे स्पष्ट है कि यशस्तिलक-चम्पू की रचना इस ताम्रपत्र से सात वर्ष पूर्व हुई थी।[1]

नीति वाक्यामृत राजनीति का अपूर्व ग्रथ है, यह उस काल मे उपलब्ध राजनैतिक ग्रथो के दोहन से समुत्पन्न नवनीत के समान अमूल्य रचना है। इस ग्रंथ में चाणक्य, वृहस्पति, शुक्र और भारद्वाज जैसे विद्वानो के वाक्यो का भी सग्रह किया गया है। फिर भी उसमें अपूर्वता के दर्शन होते हैं। सस्कृत के टीकाकार के अनुसार कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल देव (द्वितीय) ने चाणक्य के अर्थशास्त्र की दुर्बोधता से खिन्न होकर सोमदेवाचार्य से सुन्दर, सुबोध और लघुनीति वाक्यामृत की रचना कराई होगी। श्रद्धेय प्रेमी जी के जैन साहित्य और इतिहास के अनुसार यह महेन्द्रपाल द्वितीय वे ही ज्ञात होते हैं जिनके दो शिलालेख वि० स० १००३ और १००५ के उपलब्ध होते है।[2]

इन तीनो ग्रथों के अतिरिक्त निम्न रचनाओं के उल्लेख और भी मिलते है—स्याद्वादोपनिषत्, षण्णवती प्रकरण, युक्तिचिन्तामणिस्तव, त्रिवर्ग-महेन्द्रमातलि-सजल्प और अनेक सुभाषित। परन्तु खेद है कि उनकी ये महत्वपूर्ण कृतियाँ अभी अनुपलब्ध ही हैं। जिनकी खोज करना जरूरी है।

टीकाकार

अध्यात्म-तरगिणी नामक टीका ग्रथ के कर्ता मुनि गणधर कीर्ति हैं, जो गुजरात देश के निवासी थे। यह टीका उन्होने गूढ़ अर्थ और सदेह को दूर करने वाली किन्ही सोमदेव नाम के सज्जन के अनुरोध से उन्हीं

---

१ देखो, परभणी का ताम्रपत्र, एपिग्राफिआइंडिका जिल्द ४ पृ० २७८

२ देखो, नीतिवाक्यामृत की आद्य प्रशस्ति और जैन साहित्य और इतिहास द्वितीय सं० पृ १८२

के सम्बोधनार्थ बनाई गई थी। टीका की अंतिम प्रशस्ति मे उन्होने अपनी गुरु परम्परा निम्न प्रकार दी है—सागरनन्दी, स्वर्णनन्दी, पद्मनन्दी पुष्पदन्त, कुवलयचन्द्र और गणधरकीर्ति।

टीकाकार ने अपनी यह टीका वि० स० ११८९ मे चैत्र शुक्ला पचमी रविवार के दिन गुजरात के चालुक्य-वशी राजा जयसिंह या सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल मे बनाकर समाप्त की है जैसा कि प्रशस्ति के निम्न पद्यो से प्रकट है—

एकादश शताकीर्णे नवासीत्युत्तरे परे।
सवत्सरे शुभे योगे पुष्पनक्षत्र सज्ञके ॥१७
चैत्रमासे सिते पक्षेऽथ पचम्या रवौ दिने।
सिद्धा सिद्धि प्रदा टीका गणधरत्कीर्तिविपश्चितः ॥१८॥
निस्त्रशतर्जितारातिविजयश्री विराजनि।
जयसिंह देव सौराज्ये सज्जनानन्द दायनि ॥१९॥

जयसिंह सोलकी राजाओ मे बड़ा प्रतापी हुआ है, उसका विरुद 'सिद्धराज' था। यह जिस समय सोमनाथ की यात्रा को गया था, मालवे के परमार राजा नरवर्मा ने गुजरात पर आक्रमण कर दिया था। जयसिंह उससे १२ वर्ष तक लडता रहा, उस युद्ध में नरवर्मा की मृत्यु हुई और उसका पुत्र यशोवर्मा राजा हुआ। वह हार गया और बंदी हो गया। जयसिंह ने उसके प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। जयसिंह के के कोई सन्तान न थी, अतएव त्रिभुवनपाल के पुत्र कुमारपाल को गद्दी का अधिकार मिला। जयसिंह देव का राज्य संवत् ११५० से ११९९ अर्थात् सन् १०९३ से ११४२ ई० तक वहा रहा है, इसकी राजधानी अनहिलवाडा थी। गणधर-कीर्ति ने इसके राज्यकाल में ही अपनी उस टीका को पूरा किया है।

इस ग्रन्थ का सम्पादन और हिन्दी अनुवाद पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवन झालरापाटन

की प्रति से किया है। अन्य प्रतिया प्राप्त नही हो सकी। अनुवाद मूल पद्यो का किया गया है साथ ही टीका में चर्चित विषय को विशेषार्थ द्वारा सरल हिन्दी भाषा में दिया गया है जिससे पाठको को विषय समझने मे असुविधा न हो, अनुवाद की भाषा सरल हिन्दी है, हिन्दी अनुवाद कैसा हुआ, इसका निर्णय पाठक स्वय करेंगे।

१० नवम्बर १९६०

परमानन्द जैन शास्त्री

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

सोमदेवसूरिविरचिता

अध्यात्म तरङ्गिणी

(गणधरकीर्ति कृत संस्कृत टीका और हिन्दी टीका सहित)

शुद्धध्यानकृशानुधूमनिवहः स्वासैर्भृशं कुञ्चितो
मौलौ नीलविलोलमूर्द्धजजटाव्याजेन येषां बभौ ।
ज्ञानानन्दमहात्मकामरकतस्वर्णेन्दुसद्विभ्रमा-
नीलाम्भोदनिभा भवन्तु सुजिनास्ते स्वात्मलम्भाय नः ॥१॥

विचित्रोरुदेहद्युतिद्योतिताशा नरेन्द्रोद्धकोटीर रत्नप्रभाभा-
रभूयिष्ठपादः प्रधौतांघ्रियुग्मा जिनाः सन्ददन्तां फलं वांछितं नः ॥२॥

अकूपारसासीमविज्ञानदेहा-शरीराः परानन्तवीर्यावगाढा-
तिसूक्ष्मामलानन्तसौख्या विबाधाः प्रसिद्धाः सुसिद्धाः प्रयच्छन्तु शं नः ।३।

मनोज्ञार्यचिन्तामणिश्रीनिवासं पवित्रं चरित्रं समं ये दृगाढ्यम् ।
स्वयं संचरन्तेऽन्यमाचारयन्ते भवन्त्विष्टदाः सूरयः सर्वदा नः ॥४॥

अनेकान्ततत्त्वाम्बुजोल्लाससूर्याः सदेकान्तमिथ्यातमोध्वंसवर्याः ।
पराध्यापकाः पाठकान् पाठयन्तः प्रबोधं ददन्तां शुभं शाश्वतं नः ॥५॥

निबन्धप्रमुक्ताः सुयोगोपयुक्ताः प्रमादोज्झिताः सिद्धशुद्धोपयोगाः ।
कुशृङ्गारयोनीनसु[1]र्भानुभावाः सदा साधवः सन्तु ते सिद्धिदा नः ॥६॥

अघौघसंघट्टितविघ्नसङ्घ विघातका मारमहेभसिंहाः ।
भवन्तु पञ्चापि जिनेश्वराद्याः सुशाश्वतं वैबुधसम्प्रदायें ॥७॥

सत्त्वाक्षरोज्ज्वलतनुर्वरतर्कबाहुः स्याद्वादपीवरपयोधरभागभुग्ना ।
सुक्तामवृत्तसदलंकृतिहारभूषा वाग्देवता मम तनोतु मनीषितानि ॥८॥

---

१. 'अयं पाठश्चिन्त्य, कुशृङ्गारयोनीनसत्त्वर्भानुभावाः' इति शुद्ध पाठः किन्तु तत्रापि संयुक्ताक्षरस्य गुरुत्वेन छन्दोभङ्गो भवति ।

गुणिगणधर्रकीर्तिः सोमसेनोपरोधादकृत निकृतिदोषाध्वांतविध्वंसकर्त्रीम् ।
दिनमणिरुचिभावा भासितार्थां सुटीकां
श्रुतममृततरङ्गिण्याख्ययाध्यात्मपूर्वाम् ॥९॥

कुन्देन्दुकान्तिहरहासविलासशुभ्रं
कान्तं यशः प्रतिविधातुमनल्पकल्पम् ।
कम्रैः स्वरैरवितथार्थविचारसारा
साक्षान्मया विरचिता शिवसौख्यदेयम् ॥१०॥

मात्सर्यमुत्सृज्य विचार्य चार्थ्या सत्तत्त्वसन्देशनजं गुणौघम् ।
ग्राह्याः गुरुज्ञैर्गुणकक्षदक्षैः सन्मोक्षमार्गाधिगमाय टीका ॥११॥

जिनं प्रणम्य प्रणतं सुरेशैः कृते कृतार्थैर्मुनिसोमदेवैः ।
मया स्वभक्त्या क्रियते विचित्रं निवन्धनं ध्यानविधौ सुबोधम् ॥१२॥

निखिलसुरासुरसेवावसरमायातसुरसम्बोधनावधारितधर्मावसरण(ण) अमरोरगनरेन्द्रश्रीकल्पानोकहारामोल्लासामृताम्भोधरायमाण (ण) महा-परमपञ्चकल्याणकोकनदकाननोत्पत्तिसार (रं) भवाम्भोधिसमुत्तरणैक-सेतुबन्धं सम्यक्त्वरत्नं गीर्वाणगणा (न) नु ग्राहयता, अष्टादश सागरोपम-कोटीकोटी वा यावन्नष्टत्वाद्दयादमत्यागादिस्वभावस्य धर्मस्य भरते धर्मकर्माणि प्रवर्तयन् (तु) भगवानितिजाताकूत परिपाकेन, समाधि (वि) र्भविष्यदासन्नमृत्युं वैराग्ययोग्या (गा) य नीलंयसां प्रहितां गीर्वा-णेश्वरेण, तां च श्रृङ्गारादिरसाभिनयदक्षां हावभावविभ्रमविलासवती शान्तरसानन्तरमेव नश्वरस्वभावा विभाव्यात्मनोऽनश्वरस्वभावतां चिकी-र्षुरादिदेव इत्थं योगमुद्रामुन्मुद्रितवा नित्याह—

आदि जिनेन्द्र भगवान् ऋषभदेव कर्मभूमि की व्यवस्था कर शान्ति से प्रजा पालन कर रहे थे। भगवान् अपने पुत्र पुत्रियों के लिये लोकोपकारी विविध विषयों की शिक्षा देकर उनके द्वारा प्रजा का जीवन सुखमय बना रहे थे। एक दिन सौधर्मेन्द्र के मन मे विचार आया कि जिनेन्द्रदेव के द्वारा कर्म-

भूमि की व्यवस्था तो पूर्ण हो चुकी है और प्रजा अपने व्यवस्थित जीवन द्वारा सुख-सन्तोष से समय विताने लगी है, परन्तु पारमार्थिक धर्म की ओर अभी लोगो की प्रवृत्ति नही हो रही है। और इसका होना तब तक सम्भव भी नही है जब तक कि आदिदेव-युगपुरुष अपने आचरण द्वारा इसकी प्रवृत्ति नहीं चलाते है। अतः कोई ऐसा निमित्त उपस्थित करना चाहिये कि जिससे इनका चित्त सासारिक कार्यो से विरक्त होकर परमार्थ की ओर लग सके। यह विचार कर वह भगवान् की उपासना के लिये अयोध्या नगरी मे आया और उनकी राज सभा मे उसने अप्सराओ का गान तथा नृत्य कराना शुरू किया। नीलयसा देवी की आयु बहुत थोडी रह गई थी। अतः इन्द्र ने यह विचार कर कि इसकी मृत्यु से भगवान् का चित्त संसार से विरक्त होकर परमार्थ की ओर लगेगा, उसे नृत्य के लिये खडा कर दिया। वह अपने नृत्य से सभा के लोगो का मन आनन्दित करने लगी, परन्तु कुछ ही समय मे उसका जीवन समाप्त हो गया। इन्द्र ने रस भङ्ग न हो इस विचार से उस स्थान पर दूसरी देवी खड़ी कर दी, परन्तु भगवान् ऋषभदेव इस बात को अपनी दृष्टि से देख चुके थे अतः उनका मन संसार से एक दम विरक्त हो गया। उन्होने निश्चय कर लिया कि सभी पदार्थ इसी नीलयसा के समान भगुर है—विनाशीक है मै अब तक इन्हें व्यर्थ ही स्थिर रखने का प्रयत्न करता रहा। ससार मे यदि कुछ स्थिर है तो स्वकीय शुद्ध आत्मा का स्वभाव ही स्थिर है, मुझे इसे ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

ऐसा विचार कर उन्होने समस्त परिग्रह का त्याग कर योग-मुद्रा धारण कर ली। आदि पुरुष ध्यान-मुद्रा मे पृथिवी पर विराजमान है उनकी दोनो भुजाए नीचे की ओर झुककर उत्सङ्ग मे प्रफुल्ल कमल की शोभा प्रकट कर रही हैं, वे अन्य साधुओ के समान एक या दोनों भुजाओं को ऊपर उठा कर तपस्या नही कर रहे है और ध्यानस्थ होने के कारण उनके श्वासोच्छ्वास की गति अत्यन्त मन्द है। आचार्य सोमदेव उनकी इसी योग-मुद्रा का वर्णन करते हुए स्तवन करते है—

मास्माधः स्ताद्धरित्री दिशतु स परमाः सम्पदोऽस्यामबिभ्र-
त्प्रोदास्ते यः पतत्स्मा पद[1], इति च कुतो निर्भरं सर्वदा यः।
मागुर्गोत्रक्षितिध्राः [2]क्षतिमिति, मरुतः प्रक्षिपन् सूक्ष्मवीक्षान्
मा भूद्वयोम्न्यप्रचारः पवनपथसदां वो यतोऽनूर्ध्वबाहुः ॥१॥

मास्मेत्यादि—दिशतु ददातु। काः सम्पदः विभूतीः। किंभूताः? परमा उत्कृष्टा अन्यजनासम्भाविनीः। केभ्यः? वो युष्मभ्यम्। कथं (दा) सर्वकालम्। कोऽसौ स देवः? यः। किं प्रोदास्ते स्म उदासीनो[3] बभूव। किं कुर्वन्? अबिभ्रत् न धरन्। के? पदे चरणे। कथं निर्भरं निर्भरारम्भं यथा भवति। कस्याम्? अस्यां धरित्र्याम्। कुत इति? इति कुतः। मा स्म पतत् मा स्म गच्छतु। कासौ? धरित्री। कथम्? अधस्तात् अधः पातालतले। पुनः किं कुर्वन्? प्रक्षिपन् विकिरन्। कान्? मरुतः वायून्। किं विशिष्टान्? सूक्ष्मवीक्षान् सूक्ष्मा वीक्षावलोकनं येषां ते सूक्ष्मवीक्षाः तान् सूक्ष्मावलोकनानित्यर्थः। कुत इति, इति कुतः? यस्मान्मागुः मा गच्छन्तु स्म। कां? क्षतिं विनाशम्। के? गोत्र क्षितिध्राः कुलपर्वताः। पुनः किं विशिष्टो योऽनूर्ध्वं क्षिपति? अनूर्ध्व-

१. क्रम त.। २ क्षितिम् त. ३. उदासीनी बभूव ख।

बाहुः । कुत इति, इति कुतः ? यतो माभूत्, कः ? अप्रचारः अप्रवर्तनम् । क्व ? व्योम्नि-आकाशे । केषां ? पवनपथसदाम् पवनस्य पन्था मार्गः आकाशं तत्र सीदन्ति गच्छन्ति पवनपथसदः तेषां विद्याधराणामित्यर्थः । किमनेनोक्तं ? सर्वापिध्यानमुद्रा प्रकटीकृतेत्यर्थः । इदमेवाभि (भ्य)ध्यायि पूर्वैरपि —

श्वासो येन विनिर्जितोऽर्जितरयो देहस्य खेदास्पदो (दं)
येनोन्मेषनिमेषभावरहिते नेत्रे स्थिरे स्थापिते ।
यस्याशेषकुनीतिमार्ग्गविषयो व्यापारसङ्गो गतो
योगी सोऽत्र मनोगतोऽद्भुतरसे प्राप्तो दशामीदृशीम् ॥१॥

आत्मीयात्मीयराद्धान्तावबोधविवृद्धोद्धवहार (हरि) हर व्यवहारा, न्यक्षमोक्षकारणवीक्षावीक्षणसंक्षयादक्षूणतत्कारणविवक्षाऽदक्षा गृहगृहिणी-सङ्गभाजोऽपि गृहस्था ध्यानाधीनधिषणा भवन्तीति समभिदधुर्दुर्वादिनः केचन । अन्ये पुनः पाषण्डिषण्डाग्रेसराः पटुसितपटविटाः सग्रन्थस्यापि योगसंगततां सागरं वरायां (सागराम्बरायां) संगिरते ।

'वे वृषभ जिनेन्द्र तुम सब के लिये उत्कृष्ट सपदाए—अनन्त चतुष्टय रूप विभूतिया—प्रदान करे जो कि ससार से अत्यन्त उदासीन हो तपश्चरण मे निरत है तथा उस तपश्चरण की दशा मे भी जो पृथिवी पर जोर देकर अपने पैर इसलिये नही रख रहे है कि कही मेरे भार से यह पृथ्वी नीचे की ओर न खिसक जावे । जो अत्यन्त सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास की वायु को इसलिये छोड़ रहे है कि कही उसका आघात पाकर कुलाचल विनाश को प्राप्त न हो जावे तथा जो अपनी दोनो भुजाओ को नीचा इसलिये किये हुए है कि कही इनके निमित्त से आकाश में देव और विद्याधरो का सचार रुक न जावे ।'

विशेषार्थ—कितने ही अन्य साधु तपश्चर्या करते हुए जमीन पर एक पैर से खडे रहते है, कोई एक या दोनो भुजाए ऊपर उठाये रहते है और कोई प्राणायाम के द्वारा किसी निश्चित समय तक श्वासोच्छ्वास को रोक कर बाद मे बडे वेग से छोडते है। यहा श्री सोमदेव सूरि ने उनकी उस तपो-मुद्रा से दिगम्बर तपो-मुद्रा मे पार्थक्य प्रकट करते हुए कहा है कि जैनधर्म अध्यात्म प्रधान धर्म है। इसमे केवल शरीराश्रित क्रियाओ और मुद्राओ के लिये कोई स्थान नही है। यहा पद्मासन अथवा कायोत्सर्गासन मे जो भी आसन सुखकर हो उसी से ध्यान किया जा सकता है, यह विधान किया गया है। साथ ही श्लोकगत तीनो विशेषणो से यह भी सूचित किया गया है कि भगवज्जिनेन्द्र की जितनी भी प्रवृत्ति थी वह सब त्रिजगद्धिताय-तीनो लोको का भला करने के लिये थी ॥ १ ॥

तानेतान्निर्लोठमानः श्रीसोमदेवसूरिः सोल्लुण्ठमुत्पाद्येत्याद्याह—

पातालान्ता बभूवुः खलजनजनिता वाक्पथाः कर्णपूराः
क्रुध्यच्चेष्टाश्च[1]साक्षात्त्वयि मतिविशि(सि)नीभानुभासोऽर्चितांगे
आशावासो वसाने पवनपरवशैः पांशु(सु)भिः कुन्तलालि
मुत्पाद्या(ट्या)मूलमेनोद्रुमगहनजटाजालवद्वीतमोहे ॥२॥

पातालान्ता इति—बभूवु. संजाताः। के ? कर्णपूराः कर्णाभरणानि। के कर्णपूरा बभूवुः ? वाक्पथाः वचनमार्गाः। किं विशिष्टाः ? खलजन-जनिताः दुर्जनजनोत्पादिताः। पुनः किं भूताः ? पाताल तान्ताः पाताले तान्ता विस्तृताः। कया ? उर्म्यां लहर्या प्राचुर्येण (?)। तथा बभूवुः।

१. क्रुध्यत्येषा च त

काः ? क्रुध्यच्चेष्टाश्च क्रुध्यतां चेष्टाः कोपिनां व्यवहाराः। किं विशिष्टा बभूवुः ? मति विशि (सि)नीभानुभासः। मतिर्बुद्धिः सैव विसिनी पद्मिनी तस्या विकासाय भानुभासः। आदित्यदीप्त्यः (प्तयः)। कथं ? साक्षात्परमार्थेन। कस्मिन् ? त्वयि, किं विशिष्टे। चर्चितागे भूषितशरीरे। कैः पांसुभिः रेणुभिः। किं भूतैः पवनपरवशैः वातेरणायत्तैः। पुनरपि किं भूते ? वसाने परिदधाने। किम् ? आशावासः दिग्वस्त्रम्। किं कृत्वा ? उत्पाट्य उन्मूल्य। कां कुन्तलालिं वालपङ्क्तिम् कथ। आमूलं मूलोन्मूलं यथा भवति। किं वत् ? एनोद्रुमगहनजटाजालवत्, एन पापं तदेव द्रुमास्तेषां गहनमटवी तस्या जटाजूटानां जालं संघातस्तद्वत्। अस्य सर्वस्यापि सुभाषितस्यैदं कैम्पर्यम्, परमतैः किं वन्य स्वभावादेव भावानूतध्यानाधिरोहण भवतीति भव्यैरवश्यमवसेयम् ॥२॥

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह विनिर्मुक्तस्य, जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीव इति निरुक्तेः, अनाद्यनन्तकालजीवनभाजः, सर्वस्यापि जीवजातस्य ध्यानयोग्यतास्त्विति विप्रतिपन्नाः सामायिकाः समाचक्षते। तथा ज्ञानज्ञेयविज्ञानज्ञान् प्रमाणप्रमेयनिरूपणप्रवणेन समदान् नित्याद्येकांतवादिदर्पहर(रे)ण किं प्रमाणादिशास्त्राभ्यासेनेत्याचक्षाणान्परान्प्राणेत्याह—

आगे भगवान् की निर्ग्रन्थ अवस्था का चित्रण करते हुए कहते है—

'हे भगवन् आप दिशा रूपी वस्त्रो को धारण कर रहे है—शरीर की रक्षा तथा लज्जा के निवारणार्थ आपने अपने शरीर पर एक भी वस्त्र नही रख छोडा है, वायु की परतन्त्रता से उड़ती हुई धूलि से आपका शरीर चर्चित हो रहा है—धूलि लिप्त शरीर मे आप चन्दन चर्चा का आनन्दानुभव कर रहे है, आपने केशो के समूह को इस प्रकार उखाड़ कर फेक दिया है मानो पाप रूप सघन वन की जटाओ के समूह को ही उखाड

कर फेंक दिया हो, आप मोह से रहित है—पर पदार्थों में अहंबुद्धि तथा ममता की भावना से रहित है, पाताल तक फैले एवं दुर्जन मनुष्यों के द्वारा उच्चरित दुर्वचन आपके कर्णा-लकार है—आप दुष्टो के दुर्वचन को सुनकर क्षोभ को प्राप्त नही होते है अपितु उन दुर्वचनों को कानो का आभूषण समझ प्रसन्नता का अनुभव करते है और क्रोधी मनुष्यो की चेष्टाएं आपकी प्रतिभा रूपी कमलिनी को विकसित करने के लिये साक्षात् सूर्य की रश्मियो के समान है—दुर्जनो द्वारा किये हुए उपसर्ग आपकी केवलज्ञान की उत्पत्ति मे कारण है' ॥ २ ॥

विशेषार्थ—मोह के उदय से यह जीव कभी अपने आप को पर रूप मानता है। यतः भगवान् का मोह नष्ट हो चुका है अत स्त्री पुत्र धन धान्यादि बाह्य पदार्थों मे उनको ममता बुद्धि नष्ट हो चुकी है। यही नही शरीर को भी वे अपना नही मानते है और इसी लिये शरीर की रक्षा करने वाले वस्त्रादि का भी उन्होने त्याग कर दिया है। वे दिगम्बर हो चुके है—दिशाओ को ही उन्होने अपना वस्त्र बना लिया है। वायु के वेग से धूलि उडकर शरीर पर बैठती है पर इससे उन्हे ग्लानि नही होती अपितु ऐसा अनुभव करते है मानों चन्दन का लेप किया गया हो, शरीर की शोभा बढ़ाने वाले केशों को उन्होंने पाप रूपी अटवी की जडों के समूह के समान अपने हाथों से उखाड़ कर फेक दिया है, उनकी कषाय इतनी शान्त हो चुकी है कि दुर्जन मनुष्यो के द्वारा कहे गये दुर्वचन—आक्रोशात्मक शब्द—उन्हे रोष पैदा नही करते, अपितु वे उन्हे कर्णों का आभू-

षण मान कर सन्तोष से श्रवण करते है। यदि कोई कमठ या रुद्र जैसे पूर्व भव के विरोधी जीव क्रोधवश विपरीत चेष्टाओं के द्वारा उपसर्ग करते है तो इससे उनका धैर्य विचलित नही होता अपितु आत्मध्यान में इतने अधिक तल्लीन हो जाते है कि श्रेणी माँढ कर शुक्लध्यान के द्वारा घातिया कर्मो का क्षय कर अन्तर्मुहूर्त मे केवली बन जाते है। इस प्रकार दुर्जनों के उपसर्ग से उनकी बुद्धि ऐसी विकसित हो जाती है जैसे कि सूर्य की किरणों के सम्पर्क से कमलिनी विकसित हो जाती है। यहा कवि ने भगवान् की वीतराग मुद्रा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है ॥ २ ॥

[1]भव्येऽसौ धारणायां चतुरवयवजे सम्प्रयोगे धियोऽर्थे
[2]प्रत्याहारेऽक्षवृत्तेः स्वविषय [3]विश(स)राद्युक्त्युदर्के वितर्के।
ध्याने तद्ध्येयलीने यमनियमपथावस्थिते क्षेत्रनाथे
माध्यस्थ्याब्धौ समाधौ समधिकधिषणो योगमुद्रामुपैति ॥३॥

प्राणेत्या–दिउपेति प्राप्नोति। कां ? योगमुद्राम् ध्यानमुद्राम्। कः ? समधिक धिषणः स (×) संगताऽधिका उत्कटा धिषणा बुद्धिर्यस्य सः। क्व सति ? संप्रयोगे समीचीनसंयोगे। किं भूते ? चतुरवयवजे चत्वारोऽवयवा यस्य सः। तस्माज्जातः। के ते चत्वारोऽवयवाः ? इन्द्रिय आयुर्बल उच्छ्वासनिःश्वास प्राणाः (इन्द्रियायुर्बलोच्छ्वासनिःश्वास प्राणाः) अत्रेन्द्रियादीनां द्वन्द्वः। इन्द्रिय-आयुर्वल-उच्छ्वास-निःश्वासा (इन्द्रियायुर्बलोच्छ्वासनिःश्वासा एव प्राणाः) प्राणशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। कुतः ? यत् द्वन्द्वात्परं यच्छ्रूयते तत्प्रत्येकमपि संबंध्यते। कस्यां सत्याम् ?

---

१ भव्योऽसौ, इति टीकागतमूलश्लोक पाठः टीकाया तु 'प्राणेशो' इत्येव पाठः। २ प्रत्याहारो त, ३ विशसत् त ४ योगनिद्राम् त.

धारणायाम् । कालान्तराविस्मरणकारणं धारणा, तस्याम् । कस्याः ? धियः बुद्धेः । कस्मिन् ? अर्थे द्रव्यपर्यायात्मके जीवाजीवलक्षणे । न केवल धारणायाम् प्रत्याहारे च सति । प्रत्याहारो हि व्यावर्तनं तस्मिन् । कस्याः ? अक्षवृत्तेः । अक्षाणि-इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनादीनि तेषां वृत्तेः प्रवृत्तेः । कस्मात् ? स्वविषयविश (स) रात् । स्वस्य विषये आत्मीयोपभोग्ये रूप रसादौ तत्र विश (स) रः प्रवर्तनं तस्मात् । पुनः क्व सति ? वितर्के श्रुते । कुतो वितर्क. श्रुतम् ? यतः, वितर्क्यते निन्नीयते (निर्णीयते) जीवाजीवादिवस्तुतत्त्वं येन स तस्मिन् । किंभूते ? युक्त्युदर्के । ननु केयं युक्तिर्नाम ? नयप्रमाणात्मिका युक्तिः । कानीमानि नयप्रमाणानीत्युच्यते । नया नैगमादयः । प्रमाणे प्रत्यक्षपरोक्षरूपे । नय प्रमाणान्येव आत्मा स्वरूपं यस्याः सा नयप्रमाणात्मिका तया । उदर्के महति । पुनः कस्मिन् सति ? ध्याने चिन्तने । किंभूते ? तद्धेयलीने स चासौ ध्येयश्च तद्धेयः शुद्धात्मस्वभावः । तत्र लीनं संबद्ध तस्मिन् । भूयः क्व सति ? क्षेत्रनाथे क्षेत्रं शरीर तस्य नाथः स्वात्मीयात्मेत्यर्थः, तस्मिन् । किं विशिष्टे ? यमनियमपथावस्थिते । यमो यावज्जीवव्रतं, नियमो हि परिमित कालं व्रतम्, तयोः पन्था वर्त्म तत्रावस्थितः, तस्मिन् । पुनः क्व सति ? समाधौ, समाधिरैकाग्र्यं तस्मिन् । किंभूते ? माध्यस्थाब्धौ माध्यस्थ्य (स्थ्य) रागद्वेषयोरभावः । स एवाब्धिः समुद्रस्तस्मिन् । अयमत्र समुदायार्थः—पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्यायात्मकः तर्कव्याकरणाध्यात्मसिद्धान्तादिशास्त्रनिर्णीततत्त्वार्थः सद्ध्येयाविचलधीध्यानमुद्रामाश्रयतीति ॥ ३ ॥

प्रवृद्धेद्धक्रोधोद्धुर सिन्धुरकन्धराधिरोहिणोऽपि कनककान्तिकीर्णकायकान्तिकमनीयकामिनीरमणीयरमणरसितस्वान्ता अपि जैनध्यानं विदधाना आत्मनो हास्यास्पदतां सूचयन्तीति दर्शयन्तः सूरयः प्राहु :—

आगे उक्त ध्यान-मुद्रा को कौन धारण कर सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ध्यान-मुद्रा के स्वामी का वर्णन करते है—

'जो प्राणों का स्वामी है—इन्द्रियादि दश प्राणों का धारक होकर पर्याप्तक अवस्था को प्राप्त हुआ है, जो धारणा मे दक्ष है—कालान्तर मे अनुभूत पदार्थो का स्मरण रखता है, जो इन्द्रिय बल आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार अवयवो से उत्पन्न समीचीन सयोग मे कुशल है, जो बुद्धि के—ज्ञान के विषय भूत सामान्य विशेषात्मक अथवा द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थो के चिन्तन मे निपुण है, जो स्पर्शनादि इन्द्रियो को अपने २ स्पर्शादि विषयो के समूह से व्यावृत्ति करने मे समर्थ है, जो नय-प्रमाण रूप युक्तियो से श्रेष्ठ आगम मे कुशल है, जो शुद्धात्म स्वभाव रूप ध्येय मे लीन रहने वाले ध्यान मे निपुण है, जो यम और नियम के मार्ग मे स्थित आत्मा के ध्यान मे निपुण है, और जो माध्यस्थ्यभाव के समुद्र स्वरूप समाधि के धारण करने मे—चित्त की स्थिरता रखने मे सिद्धहस्त है वही मनुष्य योग-मुद्रा को—ऊपर कही हुई ध्यान-मुद्रा को—प्राप्त होता है।'

विशेषार्थ—योग और ध्यान दोनो पर्याय वाचक शब्द है। ध्यान का अर्थ है चित्त की स्थिरता अर्थात् योग और कषाय के निमित्त से ज्ञान मे जो चञ्चलता होती है उसका दूर हो जाना ध्यान कहलाता है। कवि ने इस पद्य मे ध्यान करने वाले प्राणी का निरूपण किया है। ध्यान करने वाले जीव को सर्वप्रथम पर्याप्तक होना चाहिए और वह तभी हो सकता है जबकि ५ इन्द्रिय ३ बल, आयु और श्वासोच्छवास इन दश प्राणो का

स्वामी हो गया हो, इसलिए प्रथम विशेषण 'प्राणेशः' दिया है। इसके बाद ज्ञान मे धारण शक्ति का होना आवश्यक है। पूर्व समय मे अनुभूत विषय का कालान्तर मे स्मरण होना धारणा का काम है। यह धारणा मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्रकट होने वाला मतिज्ञान का सर्वोत्कृष्ट भेद है। पदार्थ ज्ञान मे यह अन्तरङ्ग कारण है। इसके रहते हुए यदि बुद्धि का इन्द्रियादि प्राणो के साथ सयोग नही हुआ—एक क्षेत्रावगाह नही हुआ तो पदार्थ का ज्ञान नही हो सकता, क्योकि परोक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय सयोग आवश्यक कारण है अतः बुद्धि का इन्द्रियादि चार प्राणो के साथ सयोग होना आवश्यक बताया है। इस प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारण के मिलने पर इस जीव का ज्ञान कभी द्रव्य मे कभी पर्याय मे और कभी दोनो मे स्थिर होता है अतः पदार्थ के चिन्तन करने मे निपुण होना आवश्यक है। ज्ञानोपयोग पदार्थों मे स्थिर हो जाता है परन्तु स्पर्शनादि इन्द्रिया अपने-अपने विषय ग्रहण की उत्सुकता से उसे एक स्थान मे दीर्घकाल तक स्थिर नही रहने देती अतः ध्यान करने वाले को आवश्यक है कि वह इन्द्रियो की स्पर्शादि विषयों मे जो प्रवृत्ति होती है उसका निराकरण करे—मनोयोग को दृढकर इन्द्रियविजयी बने। प्रत्येक पदार्थ का निरूपण वितर्क अर्थात् श्रुत मे—आगम मे हुआ है और वह आगम नय तथा प्रमाण रूप युक्तियो से निरूपित है अतः ध्यान करने वाले को आवश्यक है कि वह नय और प्रमाण का ज्ञान प्राप्त कर श्रुत का—आगम का—अच्छा अभ्यास करे। आगम मे स्वद्रव्य के

अतिरिक्त पर द्रव्य का भी निरूपण है उन सबके ध्यान से इस जीव का उतना कल्याण नही होता जितना कि स्वद्रव्य के ध्यान से होता है अतः ध्यानाभिलाषी जीव को शुद्धात्म स्वभाव-रूप ध्येय मे लीन रहने वाले ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। आत्मा यम और नियम के मार्ग मे अवस्थित है। किसी वस्तु का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करना यम है और काल की मर्यादा लेकर त्याग करना नियम है। ध्यान के इच्छुक जीव को क्षेत्र—शरीर के अधिपति रूप उक्त आत्मा का ध्यान करना आवश्यक है और सबसे अन्त मे प्राप्त होने वाली चित्त की स्थिरता रूप समाधि को भी प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिए। यह समाधि ही माध्यस्थ्य भाव—वीतरागभाव का सागर है। जब चित्त राग द्वेष से रहित होकर शुद्धस्वभाव मे स्थिर हो जाता है तभी समाधि की यथार्थ प्राप्ति होती है। ऐसी समाधि में स्थिर रहने वाला जीव ही योगमुद्रा—ध्यान-मुद्रा को प्राप्त होता है ॥३॥

यः पात्रं नास्ति मैत्र्याः प्रशममुपगता यस्य नाशापिशाची
न स्थैर्यं यस्य चित्ते स्मरदहनशिखाः शान्तिभाजो न यस्य।
यः क्लेशानामसोढा करणपरिणतिः स्वस्य वश्या कथं नो
त्वद्ध्यानं भो ! विधित्सुर्भवति स महतां नोपहासाय देही ॥४॥

यः पात्रमित्यादि—हे भगवन् कथं न भवति ? अपि तु भवत्येव। कोऽसौ देही अङ्गी। किमर्थम् ? उपहासाय हासाय। केषाम् ? महतां सताम् संसारार्णवदूरवर्तिनाम्। स किं विशिष्टः ? विधित्सुः कर्तुमिच्छुः। किम् ? त्वद्ध्यानं तवध्यानं जैनध्यानमित्यर्थः। पुनः किं भता ? यो न

भवति । किं ? पात्रं भाजनम् । कस्या. ? मैत्र्याः । केयं मैत्री नाम ? परेषा दु.खानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री तस्या. । पुनः किम् ? यस्य नोपगता न गता । कं ? प्रशमं विनाशम् । का ? आशापिशाची, आशा सर्वं-ग्रहणाभिप्रायः सैव पिशाची राक्षसी । यथा किल ग्रहगृहीतः प्राणी हिताहितं कृत्याकृत्य च न वेत्ति तथा आशाराक्षसीगृहीतः प्रवेश्या प्रवेश्यं याच्यायाच्य च न जानातीति । भूयः यस्य किं ? न स्थैर्यं न स्थिरत्वम् । क्व ? चित्ते मनसि । पुनः कि यस्य ? शान्तिभाजो न प्रशमजुषो न । काः ? स्मरदहन शिखाः, स्मरः कामः स एव दहनो वह्निः तस्य शिखा ज्वालास्ताः । पुनः कि भूतो यः ? न सोढा न सहिता । केषां ? क्लेशानां दुःखानाम् । पुन. कि यस्य ? न वश्या नायत्ता । कस्य ? स्वस्य आत्मनः । का ? करणपरिणतिः करणानामिन्द्रियाणा परिणतिः परिणामः । सकल-प्राणिगणपरममैत्रीतन्द्रः स्ववशीकृतनिखिल करणग्रामः द्वाविंशतिपरीष-हारातिचमू पराजय परायणः स्थिरीकृताशयप्रचारः परमजैनमुद्राधरः जैनध्यानानुविधाने समर्थ इतिसकलवृत्त तात्पर्यार्थः ॥ ४ ॥

आगे निम्नाङ्कित मनुष्य ध्यान नही कर सकता यह बताते है—

'जो मित्रता का पात्र नही है, जिसकी आशा रूपी पिशाची शान्त नही हुई है, जिसके चित्त मे स्थिरता नही है, जिसकी कामाग्नि की शिखाएँ शान्त नही हुई है—जो परिषहों को सहन नही कर सकता है और जिसको इन्द्रियो की प्रवृत्ति स्वय निज के आधीन नही है हे भगवान् ! ऐसा पुरुष आपका ध्यान कैसे कर सकता है ? और करना भी चाहे तो क्या महापुरुषो की हँसी का पात्र नही होगा ? अवश्य होगा ।'

विशेषार्थ—कभी किसी प्राणी को दु:ख न हो ऐसी इच्छा रखना मैत्री या मित्रता है । जिस मनुष्य के उक्त लक्षण वाली

मित्रता नही है वह द्वेष वश—किसी प्रबल शत्रु आदि के पराजय की भावना से तपश्चरण करता है परन्तु उसका वह तपश्चरण वास्तविक तपश्चरण नही है। 'ससार की समस्त वस्तुए मुझे ही मिल जावे।' इस प्रकार की तृष्णा को आशा कहते है। आचार्यो ने इसे पिशाची-राक्षसी की उपमा दी है जिस प्रकार किसी भूत पिशाच के वश हुआ प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकार की कुचेष्टाए करता है उसी प्रकार आशा से ग्रस्त हुआ प्राणी भिन्न भिन्न प्रकार की कुचेष्टाए करता है। समन्तभद्र स्वामी ने स्वयभू स्तोत्र मे भगवान् शीतलनाथ का स्तवन करते हुए लिखा है कि

अपत्यवित्तोत्तर लोकतृष्णया तपस्विन केचन कर्म कुर्वते
भवान् पुनर्जन्मजरा जिहासया त्रयीप्रवृत्ति शमधीरवारुणात् ॥

अर्थात् हे शीतलजितेन्द्र ! कितने ही तपस्वी सतान, धन अथवा परलोक की तृष्णा से तपश्चरणादि कार्य करते हैं परन्तु आपने जन्म और जरा को छोडने की इच्छा से—शात चित्त हो मन वचन काय की प्रवृति को रोका है। इससे सिद्ध है कि आशा के वशीभूत होकर किया हुआ तपश्चरण जैनधर्म समत नही है और न उससे भव-भ्रमण का अभाव ही होता है। चित्त की स्थिरता को ही ध्यान कहते है अतः विषय कषाय आदि के कारण जिसका चित्त चञ्चल हो रहा है उसके ध्यान नही बन सकता, जिसके चित्तमे कामाग्नि की ज्वालाये प्रज्वलित होरही है उसका उपयोग स्थिर नही रहता। वह सदा अपनी प्रेयसी की प्राप्ति के उपाय सोचता रहता है अतः ध्यानाभिलाषी पुरुष को

काम पर पूर्ण विजय प्राप्त करना चाहिए। यह सब होने पर भी जो क्षुधा तृषा शीत उष्ण आदि परीषहो को अथवा मनुष्य तिर्यञ्च देव और अचेतन कृत उपसर्गो को नही सह सकता वह ध्यान से दूर रहता है। ऐसा व्यक्ति परीषहादि के आने पर मार्ग से च्युत हो जाता है अतः ध्यानाभिलाषी मानव को कष्ट-सहिष्णु बनना चाहिए। यह कष्ट सहिष्णु अवस्था तभी हो सकती है जबकि इन्द्रियो की प्रवृत्ति को अपने आधीन कर लिया जाय। जिस मनुष्य की इन्द्रिया बिना लगाम के घोडे के समान स्वच्छन्द है वह थोडा सा कष्ट आने पर ध्यान से विचलित हो जाता है अतः आचार्य महाराज ने सबसे अन्त मे इस बात पर जोर दिया है कि ध्यान के इच्छुक मनुष्य अपनी इन्द्रियो को स्वच्छन्द नही होने दे। ये सब ध्यान के साधक है इनके बिना जो ध्यान करने का उपक्रम करता है वह महापुरुषो की हँसी का पात्र होता है ॥४॥

मनोज्ञामनोज्ञवस्तुनिपातेऽप्यनुत्पन्न स्वचित्तविकाराणामेव योगीश्वराणां जैनध्यानानुध्यानमुपपन्नमितीदानीं दर्शयन्ति—

चर्चां देहे ददति (ददाने) द्विषति भजति वा कर्दमैः कुङ्कुमैर्वा
नो खेदः सम्मदो वा पितृवनपटकैर्दिव्यचीनांशुकैर्वा।
येषां द्वेष्टर्यभीष्टे[2] हसति नमति वा निन्दितैः संस्तुतैर्वा
संबन्धं ते धृताशा दधतु विदधतीष्टां धृतिं वोऽपि भूयः॥ ५ ॥

चर्चामित्यादि—दधतु धरन्तु। काम्? धृतिं संतोषम्, प्रियाप्रियार्थोपभोगेऽपि[3] चित्ताविकृतिम्। केषां? वः युष्माकं भव्यात्मनाम्।

---

१ उभयत्र पुस्तके 'ददति' इत्येव पाठः किन्त्वत्र छन्दोभङ्गो भवति.

२. द्वेषोर्यभीन्ठे त. ३ प्रियार्थोप ख.

ते के ? धुताशा' अस्ताशाः, निर्द्धूतैहलौकिक पारलौकिकभोगाभिलाषाः । येषां: किम् ? नो खेदः न परितापः सम्मदो वा न हर्षो वा न। क्व सति ? ददति[1] (ददाने) प्रयच्छति । कां ? चर्चां भूषाम् । क्व ? देहे शरीरे । कस्मिन् ? द्विषति शत्रौ । कैः कृत्वा ? कर्द्दमैः पङ्कोपलेपैः । न केवलं (द्विषति)[2] भजति वा मित्रे वा । कैः ? कुंकुमैः काश्मीरोपलेपैः । भूयः किं (विदधति) ? कुर्वाणे । कं ? सम्बन्धं संयोगम् । कैः ? पितृवन-पटकैः पितृवनं श्मसानं तत्र कुत्सिताः पटाः पटकाः तैः श्मसानचीवरैः । पुनः कैः ? दिव्यचीनांशुकैः दिवि भवानि दिव्यानि चीनांशुकानि पट्ट-वस्त्राणि तै' । भूयोऽपि पुनरपि किं कुर्वति ? द्वेष्टरि हसति हासं विदधाने । कैः ? निन्दितैर्निन्दावचनैः । अभीष्टे किं कुर्वति ? नमति नमः कुर्वाणे । कै. ? सस्तुतैः स्तुतिवचनैः । प्रतिबन्धकारि शुभाशुभद्रव्योपनिपातेऽपि लब्धानन्तचतुष्टयात्मकपरमात्मस्वभावानुभवनादविचलितस्वरूपा एव ध्यानिनो भवेयुरिति व्याख्यात वृत्ततात्पर्यार्थः ॥ ५ ॥

आगे इष्ट अनिष्ट पदार्थो के सयोग मे जिन्हे हर्ष-विषाद नही होता ऐसे महायोगीश्वर तुम्हे भी धैर्य प्रदान करे—समता बुद्धि देवें ऐसा निरूपण करते है—

'कोई शत्रु, शरीर पर कीचड का लेप लगाता है, और कोई मित्र शरीर पर केशर की चर्चा करता है । कोई श्मशान में पडे हुए मृतक पुरुषो के जीर्ण-शीर्ण वस्त्रो से शरीर का सयोग करता है और कोई उत्तम चायना सिल्क के वस्त्रों मे शरीर को ढकता है, कोई द्वेष करता हुआ निन्दात्मक वचनो से हँसी उड़ाता है और कोई इष्ट पुरुष स्तुत्यात्मक शब्दो के साथ

१. छन्दोभङ्गवशात्त मूले टीकायाञ्च ददतीतिस्थाने 'ददाने' इत्येवपाठ सम्यक्-भाति ।

नमस्कार करता है। फिर भी इन दोनो की—शत्रु और मित्र की—चेष्टाओ पर जिन्हे खेद और हर्ष नही होता वे समस्त आशाओं को नष्ट करने वाले योगीश्वर आप लोगो को भी बार बार अभिलषित धैर्य प्रदान करे।'

विशेषार्थ—ससार मे ऐसे ही मनुष्यो की अधिकता है जो कि अनुकूल उपचार करने वाले पर प्रसन्न हो जाते है और प्रतिकूल उपचार करने वाले पर अप्रसन्न हो जाते है। ऐसे पुरुष कषाय के भार से आक्रान्त रहते है। वे वीतरागता के पर्याय वाचक साम्यभाव से बहुत दूर रहते है उन्हे समीचीन ध्यान की प्राप्ति किसी भी तरह नही हो सकती। परन्तु जो इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलने पर भी अपने माध्यस्थ स्वभाव को सुरक्षित रखते है वे महापुरुष है। जो इस लोक और परलोक-सम्बन्धी आशा को ठुकरा देते है वे ही उस उत्तम अवस्था को स्वय प्राप्त हो सकते है और दूसरो के हृदय मे भी साम्य-भाव उत्पन्न करा सकते है। यथार्थ साम्यभाव को धारण करने वाले मनुष्य की आत्मा मे इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है कि वह 'अवाग् विसर्ग वपुषा मोक्षमार्गं निरूपयन्तम्' वचन से कुछ भी न कहने पर अपने शरीर से ही मोक्षमार्ग का निरूपण करने लगता है। जहा ऐसे महापुरुष अवस्थित होते है वहा के हिंसक पशु भी अपना जन्म-जात विरोध भूल जाते हैं और परस्पर मे मित्र के समान क्रीडा करने लगते है। राजा श्रेणिक ने द्वेष वश दिगम्बर मुनि के गले मे मृत सर्प डाला था पर तीन दिन बाद जब वे रानी चेलना के साथ उनके पास जाते

है, चेलना उनके गले से मृत सर्प निकाल कर उनका उपसर्ग दूर करती है और उपसर्ग दूर हुआ समझ कर जब मुनिराज अपना मुख खोलते है तो कहते है 'युवयोर्धर्मवृद्धिरस्तु' तुम दोनो की धर्म वृद्धि हो। राजा श्रेणिक के हृदय मे सहसा परिवर्तन होता है कि कहा मै दुष्ट, जिसने मृत सर्प गले मे डाल कर इन्हे तीन दिन तक कष्ट पहुचाया और कहाँ यह चेलना ? जो कि खबर पाते ही रात को दौडी आई और उपसर्ग दूर कर सन्तुष्ट हुई। फिर भी मुनिराज हम दोनो के लिये एक साथ धर्म वृद्धि दे रहे है, इन्होने यह क्रम भी नही रक्खा कि पहले उपकार करने वाली चेलना को धर्मवृद्धि देते और बाद मे मुझ दुष्ट को। कितना साम्यभाव इनकी आत्मा मे भरा है। सच्चा धर्म यही है। अब तक मै व्यर्थ बौद्धधर्म को और तदनुयायी गुरुओ को अपना हितैषी मान कर भटकता रहा। इत्यादि विचार कर राजा श्रेणिक बौद्धधर्म को छोडकर जैनधर्म मे दीक्षित हो गये। साराश यह है कि साम्यभाव—वीतराग भाव ही परमधर्म है। इसे ही प्राप्त करने का अहर्निश प्रयत्न करना चाहिये* ॥ ५ ॥

यदन्तस्तत्त्वमन्त.संवेदनेन संविदते विदिततत्त्वार्थकर्म्मन्दिवृन्दारका जननान्तरविरोधिविचित्रचित्र चित्रकचमरचमूरुचर्वण-दन्तिदन्तोद्दलनान्दो - लन-शृगालीगलगुहोन्मुक्तस्फारफूत्कारनिर्गताग्नि -नागोद्गीर्णगाडगरलान-

---

* अन्यत्राप्युक्तम्—'एक' पूजा रचयति नरः पारिजात प्रसूनै
क्रुद्ध कण्ठे क्षिपति भुजग हन्तुकामस्ततोऽन्य'।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्य म योगी,
साम्याराम विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥

लपरिष्वङ्ग - वृन्दारकवृन्दविद्याधरसैन्यसंबाधोपजनितचेतनोपसर्गभाजोऽपि तथा तृणकण्डककाष्ठेष्टकानिचयोपरिपात-शरद्धेमन्तादिऋ (द्यू) तूत्पन्नोत्प्लुष्टशीतलजलप्लवासादिताचेतनोपप्लवा अपि श्रीपार्श्वनाथसुकोशलसुकमालकुमारारविन्दसंजयन्तादयस्तत्कथमप्यपरित्यजन्तस्तेषुतेषूपाख्यानेषु । यथावच्छ्रूयन्त इति संवादयन्तः सूरय इदमूचुः ।

भूयांसि त्वं महांसि क्षिप तपन परं [1]प्लुष्यदाशानभांसि
ज्यायांसि त्वं पयांसि क्षर मिहर खरं क्षुभ्यदुर्वीमनांसि ।
सोर्जासि त्वं रजांसि सृज पवन हिमं भूरि मूर्च्छत्तरांसि
श्रेयांसि स्वावभांसि त्यजति न धृतधीरेष नूनं रहांसि ॥६॥

भूयांसि त्वमित्यादि—तथापि न त्यजति न परिहरति । कथम् ? नूनं निश्चितम् । कानि ? रहांसि एकान्तानि अन्तस्तत्त्वाभ्यासानि । किंभूतानि ? श्रेयांसि मोक्षकारणानि । कुतो ? यतः श्रेयःशब्देन मोक्षमभि (क्षोऽभि) धीयते । 'श्रेयः परमपरञ्चे' त्याप्त विचारावसरे आप्तपरीक्षायां[2] तथाभिधानात् भूयः किंभूतानि ? स्वावभांसि स्वस्य आत्मनः अवभासनमवभासः प्रकाशः, परमात्मरूपप्रकाशकानि । कः ? एषः योगी, कृतधीः पुण्यधीः । धिषणा शुद्धबुद्धिः । यद्यपि त्वं क्षिप प्रेरय । हे तपन ! हे भानो ! कानि ? महांसि तेजांसि । किंभूतानि ? भूयांसि प्रचुराणि । पुनः कथं भूतानि ? प्लुष्यदाशानभांसि दह्यमानदिगाकाशानि । कथम् परम् अत्यर्थम् । यद्यपि त्वं क्षर मुञ्च । हे मिहर ! हे मेघ ! कानि ? पयांसि पानीयानि । किंविशिष्टानि ? क्षुभ्यदुर्वीमनांसि चलज्जगतीचित्तानि पुनः कथंभूतानि ? ज्यायांसि प्रचुराणि । कथम् ? खरम् अत्यर्थम् ।

---

१. शुष्यदाशाः त । २ 'श्रेयो निश्रेयस परमपर च । तत्र पर सकल कर्म विप्रमोक्ष लक्षणं बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां 'कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षोमोक्ष' इतिवचनात् । ततोऽपरमार्हंत लक्षण घातिकर्मक्षयादनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभस्यापरनि श्रेयसत्वात् ।' आप्त परीक्षा २ कारिका ।

यद्यपि सृज त्वं क्षिप त्वम् । हे पवन ! हे वायो ! कानि ? रजांसि धूलीजालानि । किंभूतानि ? सोजांसि समर्थानि । कथम् ? हिमं नीहार वाहि यथा भवति । भूयः किं भूतानि ? भूरि मूर्च्छत्तरांसि भूरि प्रचुर (रं) मूर्च्छत् प्रादुर्भवत तरो वेगो(येषां तानि) प्रभूतोद्गच्छद्वेगानि । चतुर्व्विधचेतना चेतनोद्भूतोड्डुमरडमराडम्बराश्रयिणोऽपि अनुभूय मानस्वभावभावभाजो (विचलिता) न भवन्तीति निर्णीतार्थंवृत्तसमुदायार्थ : ॥६॥

आगे गर्मी वर्षा तथा शीत के भयकर दु ख प्राप्त होने पर भी महायोगीश्वर मोक्ष-पथ से विचलित नही होते है · यह कहते है—

'हे सूर्य ! तू, दिशाओ और आकाश को दग्ध करने वाले बहुत भारी तेज को छोड । हे मेघ ! तू पृथ्वी पर स्थित प्राणियो के चित्त को क्षुभित करने वाले बहुत भारी जल की अधिक से अधिक वर्षा कर । और हे पवन ! तू बहुत भारी वेग से उडने वाली शक्तिशाली धूलि तथा अधिक से अधिक तुषार की वर्षा कर, तो भी यह निश्चय है कि धैर्य के धारक योगीश्वर शुद्धात्मतत्त्व को प्रकाशित करने वाले कल्याणकारी एकान्त स्थान को नही छोडते है ।'

विशेषार्थ—ग्रीष्म ऋतु मे जब कि दिनकर अपनी प्रचण्ड किरणों से समस्त दिशाओ और आकाश को सतप्त कर देता है, जब मनुष्य ऊपर की ओर आख उठाकर भी देखने मे असमर्थ हो जाता है, पृथ्वी अत्यन्त सतप्त हो जाती है, वृक्ष छाया रहित हो जाते है और जब चारों ओर से उष्ण वायु वेग से वहती है उस समय भी योगीश्वर–दिगम्बर मुनिराज शरीर से नि.स्पृह हो शुद्धात्मा के ध्यान मे निरत रहते है । वर्षा ऋतु

मे जब चारो ओर से मूसलाधार वर्षा होती है, आकाश मे विजली चमकती है, झंझा वायु अपने प्रबल झकोरो से शरीर को कम्पित कर देती है तब योगीश्वर किसी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर शुद्धात्म-स्वरूप का चिन्तन करते है और जब शीतकाल मे तीक्ष्ण वायु कही धूलि उडाती है और कही वर्फ गिराती है तब योगीश्वर अपने शरीर से नि स्पृह हो शुद्धात्म-स्वरूप के ध्यान मे निरत रहते है वे उस समय श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर, सुकोशल स्वामी, सुकुमाल स्वामी, राजा अरविन्द तथा संजयन्त आदि मुनियो के पावन चरित का चिन्तवन करते हुए अपने हृदय मे शरीर और आत्मा का पृथक् पृथक् ध्यान करते है और इस प्रकार कल्याणकारी एकान्त स्थान को वे कभी भी नही छोडते है । साराश यह है कि जो किन्ही अन्य के द्वारा उत्पादित अथवा प्रकृति के द्वारा प्रदत्त सकटो से विचलित नही होते वे ही समीचीन योग-मुद्रा के धारक हो सकते है ॥ ६ ॥

सहज जातिविरोधसम्बन्धमवधूय बन्धुतामधिगम्यहरिहरिण वराह-मयसितद्रुतुरगारिकरिपुण्डरीकप्रभृतयो जन्तवः परस्परप्रणयपरायणाः लांगूललालन ससंभ्रमावलोकशृङ्गाग्रविलेखनजिह्वावलेहनादीनि प्रति-लीलायितानि विभरांबभूवुर्यद्ध्यानमाहात्म्यादिति निगदन्ति—

पुत्रप्रीत्याहिबालं कलयति नकुली सिंहशावं करेणु—
र्वाहापत्यं लुलायी प्रमुदितहृदया व्याघ्रपोतं कुरङ्गी।
दूरारूढिप्रगाढाद्विगलदविकलध्वान्तजालात्त्वदीया—
दित्थं ध्यानावधामादजनिषत मिथो जन्तवोऽमी वनेऽपि ॥७॥

पुत्रेत्यादि—हे भगवन् ! जिन ! अजनिषत संजाताः । अमी प्रत्य-क्षीभूताः । क्व ? वनेऽपि अरण्येऽपि । के ? जन्तवः प्राणिनः । कथं ?

मिथः अन्योऽन्यम् । कस्मात् ? ध्यानावधानात् चिन्तनैकाग्र्यात् । किंभूतात् ? त्वदियात् तवेदं त्वदीयं तस्मात् भावत्वात् । किंभूतात् । दूरारूढिप्रगाढात् दूरे परमप्रकर्षे आरूढौ आरोहणे तेन (×) प्रगाढं स्थिरतरं तस्मात् परमप्रकर्षपर्यन्तगमने सति निःप्रकम्पादित्यर्थः । पुनः किंभूतात् ? विगलत् निर्गच्छत् अविकलं परिपूर्णं ध्वान्तं तमस्तस्य जालं संघातः (यस्मात्) तस्मात् निर्गच्छन्संपूर्णाज्ञानसंघातात् । कथम् ? इत्थम् अनेन प्रकारेण । अनेन कथम् ? यतः कलयति मन्यते । का ? नकुली नकुलमहिला । कम् ? अहिबालम् भुजङ्गशावम् । कया ? पुत्रप्रीत्या सुतप्रेम्णा । न केवलं सा, करेणुरपि हस्तिन्यपि । कम् ? सिंहशावम् कण्ठीरवबालकम् । तथा का ? लुलायी महिषी । किंभूता ? प्रमुदितहृदया हृष्टचिन्ता । कम् ? वार्हापत्यम् तुरङ्गमतोकम् । तथा कुरङ्गी सारङ्गी । कम् ? व्याघ्रपोतम् पुण्डरीकतनयम् । आस्तां तावदमर्षविषोत्कर्षाय कर्षो मनुष्याणां तिरश्चां ततिरितरेतरापकारिण्यपि बन्धुरबन्धुता गता स्नेहभावेन वर्त्तत इति व्याख्यातवृत्त समुदायार्थः ॥७॥

आगे जन्म विरोधी जीव भी आपके ध्यान के प्रभाव से अपना विरोध भूल जाते है यह कहते है—

'हे भगवन् ! परम प्रकर्ष तक पहुचने से अत्यन्त दृढता को प्राप्त तथा समस्त अज्ञानान्धकार के समूह से रहित हुए आपके ध्यान की एकाग्रता से ये जीव वन मे भी परस्पर ऐसे हो गये कि नेवली साप के बच्चे को, हस्तिनी सिह के बच्चे को, भैस घोडे के बच्चे को, और हरिणी व्याघ्र के बच्चे को प्रसन्नचित्त हो पुत्र की प्रीति से देखने लगी ।'

अन्यत्राप्युक्तम्—

'सारङ्गी सिहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोत
मार्जारी हसबाल प्रणय पर वश केकिकान्ता भुजङ्गम् ।

वैराग्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमित कलुष योगिन क्षीणमोहम् ॥'

विशेषार्थ—पवित्र आत्मा का ऐसा ही अद्भुत प्रभाव है कि उसके सन्निधान मे जन्म विरोधी जीव भी अपना वैर भाव छोडकर परस्पर क्रीडा करने लगते है। साप और नेवले का, हस्ती और सिह का, भैस और घोडे का तथा हरिणी और व्याघ्र का पारस्परिक वैर जगत् प्रसिद्ध है, परन्तु जहा पवित्र हृदय के धारक महायोगीश्वर विराजमान रहते है वहा ये जीव शान्त होकर एक दूसरे से हिलमिल जाते है। समवसरण आदि प्रमुख स्थानो पर मनुष्य देव आदि विशिष्ट प्राणी निर्विरोध हो जावे इसमे आश्चर्य नही परन्तु निर्जन वन मे विचरने वाले अज्ञान निभृत जन्तु भी निर्विरोध हो जाते है यह आश्चर्य की बात है ॥ ७ ॥

योगाभ्यासविघातिविघ्नसंघातघाते निरन्तरमन्तस्तत्त्वोपलम्भे योगीश्वराणां [1]घनापघने बहिर्त्यज्यते तदि (ती) दानी दर्शयन्ति—

आनन्दस्यन्दिबिन्दूद्गमनजटलिते लोचने निःप्रकम्पे
यद्ध्याने नावसेयः कथमपि मरुतां गन्धवाहान्तराले।
रोमाञ्चोदञ्चवृद्धिर्भवति च सरणं कोऽप्यवाक् स प्रकाशो
ध्यानं धन्योऽयमुच्चैर्दधदपधुनुतात्साध्वसं वः स योगी। ८।

आनन्देत्यादिना—स योगी अपधुन[2] (नु) तात् निराकुर्यात्। किम् ? साध्वसंभयम् चातुर्गतिकसंसारोरगभोगोद्गच्छद्दुःखगरलानलाभिषङ्गभीतिम् ? कथम् ? उच्चैरतिशयेन। केषाम्। वः युष्माकं भव्यात्मनाम्।

---

१. घने यहिर्यज्जायते ख० । २ अपधुनातात् ख०

पुनः किंभूतः ? धन्यः कृती। किं कुर्वन् ? दधत् धरन्। किम् ? तत्। तत् किम् ? ध्यानम्। यस्मिन् ध्याने किम् ? सः। के ? लोचने अक्षिणी। किं भूते ? आनन्दस्यन्दि बिन्दूद्गमनजटिलिते आनन्दः परमसुखं तेन स्यन्दिनः स्राविण. ते च ते बिन्दवो जललवाः तेषामुद्गमनानि ऊर्ध्वगमनानि तैर्जटिलिते जटायुक्ते परमात्मानुभवपरमसुखस्राविकङ्कणाङ्किते। भूयः किंभूते ? निःप्रकम्पे अचले। पुनः किम् यद्ध्याने ? नावसेयो न न ज्ञातव्यः। क. ? व्यापारः प्रवृत्तिः। कथम् ? कथमपि केनापि प्रकारेण। केषां ? मरुता वायूनाम्। क्व ? गन्धवाहान्तराले गन्धवाहानामन्तरालं मध्यं(तस्मिन्)नासामध्ये। मुहुः किम् ? भवति। का ? रोमाञ्चोदञ्चवृद्धिः रोमाञ्चः पुलकः उदञ्चवृद्धिः प्रबल पुलकालिलीनता। भूयः किम् ? यस्मिन् भवति। कः प्रकाशः प्रबोधः। किंभूतः ? अवाक् वाचामगोचरः। पुनः किंभूतः। यः स कोऽपि स कश्चिदप्यद्वितीयः। कुतः ? ध्रौव्योत्पादव्ययस्वभावसल्लक्षणलक्षित सूक्ष्मान्तरितचेतनाचेतनात्मकत्रिकालत्रिलोकं विषयविषयी यतः। शुद्धध्यानानुध्यानाधीनधियां ध्यानिनांधन्यधीरवन्धुरसंहननममन्दानन्द सन्दोहोदञ्चदुच्चरोमाञ्चसञ्चयरचनाचर्चाञ्चितवीक्षणात्सहचरानुचरणचतुरचातुरीसञ्चरच्चञ्चरीकनिचयं विरलविरलनिर्गलज्जललवाविलाक्षिपक्ष्मलं सकलवचनातीतचित्तप्रकाशं भवतीतिनिरूपितवृत्ततात्पर्यार्थः ॥ ८ ॥

आगे प्रशस्त ध्यान के धारक महाभाग मुनिराज चतुर्गति-सम्बन्धी जीवो के भय को दूर करे .यह कहते है—

'जिस ध्यान मे दोनो नेत्र आनन्द से प्रकट होने वाले हर्षाश्रुओ की बूदो से व्याप्त तथा निश्चल हो जाते है, जिस ध्यान मे नासिका के भीतर वायु के सचार का पता नही चलता, जिस ध्यान मे रोमाञ्चो की बहुत वृद्धि हो जाती है और जिस ध्यान मे वचनागोचर प्रकाश का अनुभव होता है उस उत्कृष्ट

ध्यान को धारण करने वाले धन्यभाग योगीश्वर तुम सबके भय को दूर करे ।'

विशेषार्थ—जिस समय योगीश्वर ध्यान निमग्न होते है उस समय वे विचार करते है कि अहो! मैने आज तक पर-पदार्थो को अपना मान कर उनके सयोग-वियोग मे हर्ष-विषाद का अनुभव किया । मैने अपने शुद्ध-बुद्ध-निरञ्जन स्वभाव की ओर आज तक दृष्टि नही डाली । अनन्त आनन्द का सागर तो हमारे हृदय मे ही हिलोरे भर रहा है—इत्यादि विचार से उनके नेत्रों मे हर्षाश्रु छलक पड़ते है तथा उनकी चञ्चलता दूर हो जाती है । शरीर मे स्थिर रहने से श्वासोच्छ्वास इतनी मन्थर गति से चलता है कि वह चल रहा है या नही चल रहा है इसका निर्णय नही हो पाता । अपनी अनादि भूल के दूर हो जाने एवं अचिन्त्य आत्म-शक्ति का भान हो जाने के कारण उनके शरीर मे रोमाञ्च उठने लगते है और अज्ञानान्धकार दूर हो जाने से हृदय मे सम्यग्ज्ञान का इतना भारी प्रकाश फैल जाता है कि जिसका शब्दो के द्वारा वर्णन करना कठिन होता है । आचार्य सोमदेव कहते है कि जो महानुभाव इस उत्कृष्ट ध्यान को धारण करते है वे धन्य है—अत्यन्त श्रेष्ठ है । ऐसे योगी संसार के जीवों के भव-भय को दूर करे ॥८॥

आदित्योद्द्योतमानसमकरन्दारविन्दोदरप्रासादवासेन्दिरामन्दानन्दोदय विजृम्भणात्स्वयमुदयमानेऽपि तद्विनोदने शरदिन्दु कुन्दकुड्मलसमवदनसुदतीनाममृतरोचीरोचिः स्पर्शविकसन्नीलोत्पलदल दीर्घनयनानां चञ्चत्काञ्चन-कुम्भसन्निभशुम्भत्स्तनाभोगानां सुकुमारमालतीमालाललितबाहुलतानां

नरामरोरगाङ्गनानां शृङ्गारोत्तरङ्गित ससंभ्रमभुविभ्रमाणां दिव्यभोगोपसेवायामपि वीतस्पृहा योगीश्वरा भवन्तीत्य कवयन्ति सूरयः—

ये लक्ष्मीणां विनोदे स्वयमुदयपरेऽपि प्रसादे महेच्छा
ध्यानर्द्धीनां प्रभावे त्रिदशमृगदृशां दिव्यभोगोपसेवे ।
कल्पद्रूणां प्रचारे भुवि दिवि दिशि वा कामचारे विहारे
वीतेच्छा धाम ते वस्तदसमविभवं योगिनो वर्द्धयन्तु ।। ९ ।।

ये लक्ष्मीणामित्यादिना—वर्द्धयन्तु वृद्धि नयन्तु । किं तत् ? धाम तेजः । किं भूतम् ? तत् प्रसिद्धं चण्डरोचिश्चन्द्रसप्तार्चिरोचिश्चयानां तिरस्कारगोचरमिति तच्छब्दार्थः । भूयः किंभूतम् ? असमविभवम् अद्वितीयैश्वर्यं परमार्हन्त्यपदम् । केषाम् ? वो युष्माकम् । के ? ते योगिनः । ते कथभूताः ? महेच्छाः महः पूजा इच्छा इष्टिः पूज्यचरिताः । मुहुः किं भूताः ? वीतेच्छा. विशेषेण इता गता इच्छाभिलाषो येषां ते । क्व ? विनोदेविलासे । किंभूते ? स्वयमुदयपरे स्वयमुदयप्राप्ते । कासां ? लक्ष्मीणां साम्राज्यसम्प्रदाम् । न केवलं तथा क्व ? प्रसादे प्रसादः प्रसत्तिः तस्मिन् । अम्बिका चक्रेश्वरीज्वालामालिनीपद्मावतीप्रभृतिदेवतासेवायाम् । तथा क्व ? प्रभावे माहात्म्ये । कासाम् । ध्यानर्द्धीनां ध्यानविभूतीनाम् । कास्ताऋद्धयः ?

'बुद्धिर्महावरतपः सुलभोपलब्धिवैकारिकी विविधसर्वरुजां प्रहन्त्री ।
सर्वौषधीबलरसर्द्धिरथाक्षया च सप्तैव ता किल भवन्ति सुयोगभाजाम्' ।।

भूयः तथा क्व ? दिव्यभोगोपसेवे दिविभवादिव्याः ते च ते भोगाश्च तेषामुपसेवा(व.) तस्मिन् स्वर्गभोगोपसेवने ? कासाम् ? त्रिदशमृगदृशां देवाङ्गनानाम् । मुहुस्तथा क्व ? प्रचारे प्रवृत्तौ । केषाम् ? कल्पद्रूणाम् त्रिदिवानोकहानाम् । भूयस्तथा क्व ? विहारे पर्यटने । किं विशिष्टे ? कामचारे स्वेच्छा प्रवर्तने । कस्याम् ? भुवि पृथिव्याम् । न परं दिवि व्योम्नि । न केवलं दिशि आशायाम् । लक्ष्मीलीलायिते साम्राज्यविलासे

शासनदेवतोपनीते नगरादिरचनाविशेषे ध्यानसमृद्ध्यधिरूढबुद्ध्यादि ऋद्धि-सम्पत्तौ भक्तिप्राग्भारायातसुरसीमन्तिनीसुखसन्ताने वसनाङ्गादिदशकल्पा-वनीरुहोपकल्पितदशाङ्गभोगे च परमात्मसंवेदनानुभूत्युत्पन्नानन्तचतुष्टया-त्मक सुखस्पृहयालवः स्वयं समायातेऽपि पुरासरीश्वराः स्पृहां न गच्छन्तीति व्याख्याकृतवृत्तसँघातार्थः ॥६॥

आगे जिन्होने सब प्रकार की इच्छाओ को जीत लिया है ऐसे योगी ही ध्यान धारण कर सकते है यह कहते है—

'जो महानुभाव स्वय प्राप्त हुई राज्य सम्पदाओ के विलास मे अम्बिका, चक्रेश्वरी, पद्मावती आदि शासन देवियो के प्रसन्न करने मे, ध्यान के फलस्वरूप प्राप्त हुई अनेक ऋद्धियो के प्रभाव मे, देवाङ्गनाओ सम्बन्धी स्वर्गीय भोगो के उपसेवन मे, कल्पवृक्षों के प्रचार मे तथा पृथिवी, आकाश, दिशाओ एव विदिशाओ मे स्वेच्छानुसार विहार करने मे इच्छा रहित है, वे योगिराज तुम सब के अद्वितीय ऐश्वर्य से युक्त तेज को वृद्धि-गत करे।'

विशेषार्थ—मुनिराज ध्यान करते है पर उसके फलस्वरूप उन्हे यह इच्छा नही होती कि हम चक्रवर्ती हो जावे और षट्-खण्ड वसुधा के साम्राज्य का उपभोग करें। भिन्न-भिन्न प्रकार के शासन देव हमारे ऊपर प्रसन्न होकर हमारा प्रभाव फैलावे ऐसी इच्छा से वे दूर रहते है। तपश्चरण के प्रभाव से हमारे अनेक ऋद्धियां प्राप्त हो और उनके बल से ससार मे हमारा गौरव बढे, यह इच्छा उनके स्वप्न मे भी नही होती। हम समाधि से प्राणतज स्वर्ग में उत्पन्न हों और वहा देवाङ्गनाओ

के साथ उत्तमोत्तम भोग भोगे यह इच्छा उनके कभी नही होती। हम भोगभूमि मे उत्पन्न होकर वहा कल्पवृक्षो में विहार करें अथवा देव या विद्याधर होकर पृथिवी मे, आकाश मे तथा समस्त दिशाओ और विदिशाओं मे इच्छानुसार भ्रमण करें ऐसी अभिलाषा से वे बहुत दूर रहते है। वे सब ओर से अपने मनो-व्यापार को निवृत्त कर शुद्ध आत्म-स्वरूप मे लीन रहते है। ऐसे ही महानुभाव अष्टप्रातिहार्यरूप अनुपम ऐश्वर्य से युक्त परम आर्हन्त्य पद को स्वय प्राप्त होते है और दूसरो को प्राप्त कराते है इसीलिए आचार्य सोमदेव ने भावना प्रकट की है कि उक्त मुनिराज तुम सब के लिए अनुपम तेज प्रदान करे ॥९॥

अशेषविषमविषयव्यापारोपरतमात्मानं गमनातिगमनखेदश्चित्रक्षेत्रं सङ्कल्पनृपपालं ध्यानोपयोगोद्गच्छदच्छतुच्छसंवेदन सुधारसास्वादनमेदुर वदनोदरादर मन्दप्रचार कुर्वन्तीति निवेदयन्तः (सूरयः प्राहुः)—

आत्मव्योमप्रकाम[1]भ्रमिभिदुरतनुं यो मनोराजहंसं
योगोद्योग प्रयोगोन्मिषदमृतरसास्वादमन्द प्रचारम् ।
निःसंज्ञीकृत्य सर्वेन्द्रियविधिविगमादुद्वसे देह गेहे
सानाथ्यं संविधते प्रशमयतु स वो निर्ममः कर्मघर्मम् ॥१०॥

आत्मव्योमेत्याहुः—प्रशमयतु उपशमयतु। स योगी। किं? कर्मघर्मम् कर्माणि ज्ञानावरणादीनि तान्येव घर्म्मं परितापम्, ज्ञानावरणाद्युत्पादितदुःखानलपरितापम्। केषाम्? वः युष्माकम्। स किंभूतः? निर्ममः ममेतिबुद्धेर्निष्क्रान्तः जीवाजीवात्मके वस्तुनि ममेति मति रहितः।

---

१. भ्रम त।

यः कि विधत्ते ? कुरुते । किम् ? सानाथ्यं सनाथस्य भावः सानाथ्यं प्रभुत्वम् । क्व ? देहगेहे शरीरसद्मनि। किंभूते ? उद्वसे शून्ये । कि कृत्वा ? नि.संज्ञीकृत्य, संज्ञा अभिध्यानं संज्ञाया निष्क्रान्तः निःसज्ञः, अनि संज्ञं निःसंज्ञं कृत्वा, निर्ममतामुपनीयेत्यर्थः । कस्मात् ? सर्वेन्द्रियविधिविगमात् सर्वेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, विधीयत इतिविधिः कार्यं तस्य विगमो विनाशः । रूपरसः गन्धाद्यशेषविषयाभिरतेर्विरामस्तस्मात् । कं ? मनोराजहंसं चित्तेन्द्रवारणम् । कि भूतम् ? आत्मव्योम प्रकामभ्रमिभिदुरतनुम् आत्माजीवः स एव व्योम आकाशं तस्मिन् आकाशे प्रकाममत्यर्थं भ्रमिर्भ्रमणं तेन भिदुरा कदर्थिता तनुः शरीरं यस्य तम् आत्माम्बरावरविहाराश्रयिश्रमश्रान्तिक्लिष्टकायम् । भूय. किंभूतम् ? योगोद्योगप्रयोगोन्मिषदमृतरसास्वादमन्दप्रचारम् योगोध्यानं तत्रोद्योग उद्यमः तस्य प्रयोगः प्रयोजनं तस्मादुन्मिषत् प्रादुर्भवत् अमृतरसं च अमृतंसुधा तस्य भाव रसं तस्यास्वाद आस्वादनं तेन मन्दं चारं मन्दम् । ईषत्प्रचारोगमनम् ध्यानोद्यमानुयोजनादुद्भवत्पीयूषप्रवाहपानादबहिरवरुद्धप्रसरमित्यर्थः । सकलकरणकार्याणामभिरतेः समूलकाषं कष्णात् त्रैलोक्यसाम्राज्यं जरत्तृणतुलां प्रापयतामात्मतारापथसततातनावरतक्लेशक्लेशितमूर्तिश्चेतोनृपतिवारणः आनन्दात्मात्माभ्यासमानसरसः सवास एव भवतीति निचाथितवृत्तसंकल्पितार्थः ॥१०॥

आगे इन्द्रिय और मन के व्यापार से रहित योगीश्वर कर्म रूप आताप को नष्ट करें यह कहते है—

'आत्मा रूपी आकाश मे अत्यन्त भ्रमण करने से जिसका शरीर खेद खिन्न हो रहा है, और ध्यान के उद्योग के प्रयोजन से प्रकट होने वाले अमृत रस के आस्वाद से जिसका प्रचार मन्द हो गया है, ऐसे मन्द रूपी राज-हस को जो निश्चेष्ट बनाकर, समस्त इन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो जाने से शून्य रूप दिखने

वाले शरीर रूपी गृह मे स्वामित्व प्रकट कर रहे है वे ममता बुद्धि से रहित योगीश्वर तुम सबके कर्मरूपी आताप को शान्त करे।'

विशेषार्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रियां तथा मन ये मिलकर शरीर को आबाद किये हुये है अर्थात् जब तक शरीर मे इन्द्रियो और मन की प्रवृत्ति जारी रहती है तब तक शरीर आबाद दिखता है और इनकी प्रवृत्ति के अभाव मे शरीर शून्य हो जाता है। मन राज-हस पक्षी के समान इतस्तत· भ्रमण करता रहता है। सरागी मनुष्यो का मन राग-वर्धक पदार्थो मे घूमता रहता है परन्तु वीतराग मनुष्य का मन अन्य पदार्थो से निवृत्त होकर एक आत्मा के ही चिन्तन मे लीन हो जाता है। जब ध्यान का प्रारम्भ होता है तब अन्य पदार्थो से हटा कर मन को आत्मा के ध्यान में लगाया जाता है परन्तु जब सतत साधना से कर्म निर्जीर्ण होने लगते है और ध्यान का फल मिलने का अवसर आता है तब मन आत्म-चिन्तन से भी व्यावृत्त हो जाता है, क्योकि आत्म-चिन्तन भी एक प्रकार का विकल्प ही है और निर्विकल्पक अवस्था मे यह विकल्प सभव नही होता है। वीतराग मनुष्य ने ध्यान धारण करने मे जो उद्योग किया था उसके फलस्वरूप आत्म-स्वरूप मे स्थिरता होने से उसके अलौकिक शान्ति रूपी अमृत प्रकट होने लगता है उसके रसास्वाद से मन का प्रचार शान्त हो जाता है। इस प्रकार वीतराग मनुष्य अपने मन रूपी राज हस पक्षी को निश्चेष्ट बना देता है। मन इन्द्रियों का राजा है

अत जब मन निश्चेष्ट बन गया तब इन्द्रिया स्वयमेव निश्चेष्ट हो जाती है अर्थात् अपने अपने योग्य स्पर्शादि विषयो के ग्रहण से विरत हो जाती है। यह सब होने से वीतराग साधु का शरीर रूपी घर शून्य हो जाता है। मोक्ष प्राप्त होने के पूर्व तक साधु की आत्मा उस शून्य शरीर मे आवास करती है अत. अपने अस्तित्व से उसे सनाथ बनाये रहती है परन्तु उस शरीर मे उनके कुछ भी ममता नही रह जाती। वे पूर्णरूप से निर्मम हो जाते है। यह आचार्य सोमदेव आशीर्वाद के रूप मे अपनी आशसा प्रकट करते है कि ऐसे ममता रहित योगी तुम सब के ज्ञानावरणादि कर्म रूपी आताप को शान्त करें ॥१०॥

श्रुतपरिचितानुभूतस्रग्वनिता [1]चन्दनादिद्रुमसन्देहोद्भूतभोगोपभोगोच्चोच्चलिङ्गनारङ्गलवङ्ग कक्कोलैलामोचचोचाचमनलालसमानसो मनोगोलांगूलो निरालम्बे न रमते इति तस्या लम्बनं कथयन्तो ब्रह्मग्रथेरित्यादि ग्रंथितवन्तः सूरयः—

ब्रह्मग्रन्थेरुदीर्णं तदनु च सुचिरं नाभिपद्मेऽवतीर्णं
हृत्पंके जे प्रकीर्णं परिचितरसने तालुरन्ध्रे विशीर्णम् ।
चक्षुभ्र्रू भालमूर्द्धान्तरपरिसरणोपास्तिनिस्तीर्णविघ्नं
यस्यासीत्स्वान्तमित्थं प्रथयतु पृथुतां प्रार्थितैर्वः स मान्यः ॥११॥

प्रथयतु विस्तारयतु। कां ? प्रथुतां परमपद्मां त्रिभुवनाधिपतिसेवनीयामित्यर्थः। कैः प्रार्थितैः याचितैः ध्यानाभ्यासपरमप्रकर्ष पर्यन्तगमनैः कः ? स ध्यानी। कथंभूतो ? मान्यः पूज्यः केषां ? वो युष्माकम्। यस्य किम् ? आसीत् संजातम्। किम् ? स्वान्तं मनः। कथम् ? इत्थम् अनेन प्रकारेण। कथम् ? उदीर्णम् उद्गतम्। कस्याः ? ब्रह्मग्रन्थेः निखिलान्त-

---

१. चन्दनाति ख.

जलिमूलात् । पुनः किं भूतम् ? अवतीर्णमायातम् । क्व ? नाभिपद्मे नाभ्यम्भोजे । कथम् ? तदनु च, तत्तस्मात् अनु पश्चात् । कथम् ? सुचिरं बहुतरकालम् । भूय. किंभूतम् ? प्रकीर्णं क्षिप्तम् । क्व ? हृत्पङ्कजे हृदयकोकनदे । पुनः किंभूतम् ? विशीर्णम् । बाह्याशात्रुटितम् । क्व ? तालुरन्ध्रे तालुर्गलस्तस्यरन्ध्र विवरं तस्मिन् । किंविशिष्टे ? परिचितरसने जिह्वायुक्ते । पुनः किंभूतम् ? चक्षुर्भ्रूभालमूर्द्धान्तिरपरिसरणोपास्तिनिस्तीर्णविघ्नम् चक्षुर्नयनं, भ्रूर्वल्ली, भाल ललाटं, मूर्द्धा मस्तकं तेषु परिसरणं परिवर्तनं तेनोपास्तिः सेवा तया निस्तीर्णम् उत्तीर्णं विघ्नम् अन्तरायं (यस्य) तत् । लोचनभ्रूलताभालान्तरालावतारोत्तीर्णान्तिरायौघमित्यर्थः । आत्मात्मीयपरिच्छित्तिविकलकरणसमूहसोदरसंवासशून्येऽपि शरीरारामे नाभिहृत्कमलक्रीडनेन नेत्ररसनापद्ममन्दिरोदरप्रवेशनेनकुन्तलनिलयनीलशिलातलोपवेशनेन च विनष्टध्यानविघ्नसंघातं तत्रैव मनोबालकं रमयन्ति मुनिनाथा इति व्याख्यातवृत्तसंहत्यर्थः ॥११॥

आगे योगी का मन शुद्धात्मस्वरूप से हट कर कहा कहां स्थिर होता है यह कहते है—

'जिनका मन ब्रह्म-ग्रथि से उद्गत हो चिरकाल तक नाभि रूप कमल मे अवतीर्ण रहा, फिर हृदय कमल मे लीन हुआ, अनन्तर जिह्वायुक्त कण्ठ प्रदेश मे बाह्याशाओ से रहित हो विशीर्ण हुआ और तत्पश्चात् नेत्र, भौह, ललाट तथा मस्तक मे परिवर्तित हो निर्विघ्न रूप से स्थिर रहा वे पूज्य योगीश्वर ध्यानाभ्यास की परम प्रकर्षता की प्राप्ति द्वारा तुम सब की परम लक्ष्मी—मोक्ष लक्ष्मी—को विस्तृत करे ।'

विशेषार्थ—ध्यान की सिद्धि के लिए मन को निर्विकल्पक शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थिर करना चाहिए । यही ध्यान का

अन्तिम रूप है और इसीसे कर्म-निर्जरा रूप फल की प्राप्ति होती है। परन्तु मन को निर्विकल्पक शुद्ध-आत्म स्वरूप मे स्थिर रखना प्रत्येक मनुष्य के लिए सरल कार्य नही है । अत· जिनका मन निर्विकल्पक शुद्ध आत्म-स्वरूप से हटता है वे अपना मन नाभि प्रदेश मे स्थित अष्टदल कमल मे स्थिर करते है, वहा से हटता है तो हृदयस्थल मे स्थित अष्टदल कमल की कलिकाओ पर उसका विचरण कराते है, वहा से चलता है तो कण्ठ चक्षु भौंह ललाट तथा मस्तक पर उसे स्थिर रखते है, इस प्रकार इन आलम्बनो से मन को स्थिर रखने का अभ्यास करते है और अन्त मे शुद्ध आत्म स्वरूप मे स्थिर करते है। यहा आचार्य सोमदेव ने आशीर्वाद देते हुए अपनी आशसा प्रकट की है कि पूर्वोक्त प्रकार से जिन्होने अपने मन को स्थिर कर लिया ऐसे योगीश्वर तुम्हे परम लक्ष्मी—मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करे ॥११॥

परीक्षादक्षमुमुक्षुपूर्वपक्षक्षमाक्षीणज्ञानकक्षाक्षूणवीक्षादक्षितप्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणसाक्षात्कृतप्रत्यक्षपरोक्षार्थाः कर्मकक्षं दिधक्षुणा मुमुक्षुणा निखिलकर्ममोक्षलक्षणपुरुषार्थसिद्धि कथं भवतीति पृष्टा इव सदृष्टान्ता यथा सिद्धौषधिसंबन्धाद्रसस्य विभावस्वभिरतौ जातायामारकूटादिलोहाष्टकं ह्राटकतामटति तथा श्रद्धासिद्धौषध्यभिषङ्गात्पुरुषपारदस्य ध्यानधनञ्जया-नुरमणे शरीरं कदर्थसि (सीति) मोक्षार्थसिद्धि निरुपयतः (यन्तः) श्रद्धेत्यादि निरुपयन्ति सूरयः—

श्रद्धा सिद्धौषधेः स्यात्पुरुषरसरतिर्ध्यानवैश्वानरेऽस्मिन्
निः (नैः) सङ्गयेध्मप्रवृद्धे शमवगमदृढाधारसंबन्धनेन ।

संजायेतार्थसिद्धिः कथमिति न परा देहिलोहे जनस्य
पश्चाद् व्योमोपयोगाल्लघु समधिगते काञ्चनास्थां रसेन्द्रे॥१२॥

स्याद्भवेत्। का? पुरुषरसरतिः पुरुषः आत्मा स एव रसः पारदः तस्य रतिः रमणम्। कस्याः? श्रद्धासिद्धौषधेः श्रद्धा सम्यग्दर्शनं तदेव सिद्धा निष्पन्ना परमौषधिस्तस्याः। क्व? अस्मिन् ध्यानवैश्वानरे ध्यानं वक्ष्यमाणलक्षणं धर्म्यशुक्लरूपं तदेव वैश्वानरोऽग्निः तस्मिन्। किं भूते? निः (नैः) सङ्गयेद्धप्रवृद्धे निःसङ्गस्यभावो हि परमनैः किञ्चन्य तदेवेध्म वाष्ठानि तैः प्रवृद्धे ज्वालाकराले। केन? शमवगमदृढाधारसम्बन्धनेन शमोरागाद्युपशमः अवगमः समयसारादिप्राभृतशास्त्रपरिज्ञानं स एव दृढाधारः घनासा (?) दर्शनं तस्य सम्बन्धनं संयोगस्तेन कथं न सञ्जायेत? केन प्रकारेण नोत्पद्येत? अपि तु भवत्येवेत्यर्थः। का? अर्थसिद्धिः। अर्थो धर्मार्थकाममोक्षरूपः तस्य सिद्धिः निष्पत्तिः प्राप्तिरिति। किंभूता? परा अक्षया मोक्षरूपिणीति यावत्। क्व? देहिलोहे, देहोऽस्यास्तीति देही आत्मा एव लोहमयः तस्मिन्। यथा लोहः किट्टकालिका कलितमयो रूपतां धत्ते तथा जीवोऽप्यन्तरङ्ग मोहाहकारकारणनिकरोद्भूतान्तरङ्गरागरोष-रूप कालिकोपलेपाद् बहिरङ्गकलत्रपुत्रमित्रशत्रुसाधनसन्निधानाधीन ज्ञाना-वरणादि कर्माष्टकोत्पादित कार्म्मणौदारिककायस्वभाव बहिरङ्ग किट्टा-क्रान्तत्वादयः स्वभावता प्रतिपद्यते। कस्य? जनस्य भव्यसाधकस्य। क्व सति? समधिगते प्राप्ते। काम्? काञ्चनास्थाम् काञ्चनाद्वितीयास्थां दशाम् अयोगिचरमदशाम्। क्व? रसेन्द्रे आत्मनि। न केवलं तत्र रसेन्द्रे च। कां? काञ्चनास्थां स्वर्णस्वभावताम्। कथम्? लघुतूर्णम्। कथम्? पश्चात्। कस्मात्? व्योमोपयोगात् व्योमाकाशम् अभ्रकञ्च। आत्मरसपक्षे सकलविकल्पातीतात्मतत्त्वं व्योम तत्रोयोपयोगो मुहुर्मुहुरभ्यासः तस्मात् शुद्धोपयोगोपयुक्तपरमात्मानुध्यानात्। सदौषधिसम्पर्काद्रसस्यार-नालजलासया (?) च्चित्रभानुभानुभास्वरतासहिष्णुतायामभ्रकोपयोगेन गाँगेयांगे रसेन्द्रे सति कति तुरगातपत्राभिरामो याचकत्व भोक्तृत्त्वदातृत्त्व

स्वभावार्थनिष्पत्तिर्यथा धातुवादिनां संपनीपद्यते। पञ्चविंशति मलरहित सम्यग्दर्शनस्यौषधियोगाज्जीवसंज्ञरसस्य योगजातवेदसि रततायामुत्पादितायां समुच्छिन्नक्रियारूपशून्योपयोगेन पञ्चलघ्वक्षरकालकलां काञ्चनावस्थां मंक्षु विगाहमाने परमात्मनि मोक्षलक्षणार्थसिद्धिः तथायोगिनां बोभवीतीति रंरणितवृत्त तात्पर्यार्थः ॥१२॥

आगे ध्यान से ही समस्त प्रयोजनो की सिद्धि होती है यह प्रकट करते है—

'लोकोत्तर शान्ति और भेद-विज्ञान रूपी दृढ आधार का सम्बन्ध पाकर निष्परिग्रहता रूपी ईंधन से प्रज्वलित होने वाली इस ध्यान रूपी अग्नि मे श्रद्धारूपी सिद्धौषधि के सुयोग से आत्मा का आत्मीयसुख मे रमण होने लगता है, (पक्ष में आत्मा रूपी पारद की सिद्धि हो जाती है) तदनन्तर निर्विकल्प ध्यान के उपयोग से (पक्ष में अभ्रक आदि के संयोग से) अनन्त सुख सम्पन्न (पक्ष में पारद भस्म से सम्पन्न) यह आत्मा रूपी लोहा जब शीघ्र ही किसी अद्वितीय अवस्था को (पक्ष मे सुवर्ण-रूपता को) प्राप्त हो जाता है तब इस जीव की मोक्ष प्राप्ति रूप प्रयोजन की सिद्धि (पक्ष मे धन-धान्यादि विविध वैभव की सिद्धि) क्यो न होगी ? अवश्य होगी।'

विशेषार्थ—यहां आचार्यवर्यने ध्यान के लिये अग्नि की उपमा दी है। उसका कारण यह है कि जिस प्रकार अग्नि के सम्बन्ध से अनेक पुद्गल परमाणु भस्म हो जाते है उसी प्रकार ध्यान के सम्बन्ध से कर्म रूप पुद्गल परमाणु भस्म हो जाते है। राग और द्वेष का उपशमन होना शम कहलाता है तथा

समयप्राभृत आदि ग्रन्थों के अध्ययन से प्रकट हुआ भेदविज्ञान अवगम कहलाता है। शम और अवगम का सम्बन्ध पाकर ध्यान रूपी अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित हो उठती है। शम और अवगम के प्रभाव से इस मानव की निर्ग्रन्थ दशा प्रकट हो जाती है और वह ध्यानाग्नि के प्रज्वलित होने मे ईंधन का काम करती है। श्रद्धा सिद्धौषधि के समान है और आत्मा पारदधातु के समान है। जिस प्रकार सिद्धौषधि के प्रयोग से पारदधातु अग्नि मे अभिरत होकर पारदरस रूप हो जाती है और तदनन्तर अभ्रक आदि पदार्थों के सयोग से लोहे को सुवर्ण बना देने की क्षमता प्राप्त कर लेती है उसी प्रकार यह आत्मा श्रद्धा के प्रयोग से धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान रूपी अग्नि मे अभिरत होकर रसराज बन जाती है और निर्विकल्पक शुक्लध्यान के सहयोग से जीवात्मा रूपी लोहे की काञ्चन दशा अर्थात् अयोग-केवली रूप अद्वितीय दशा पक्ष मे काञ्चन दशा अर्थात् सुवर्ण रूप दशा मे परिवर्तित करने की क्षमता प्राप्त कर लेती है। एतावता यह सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार जब किसी दरिद्र मनुष्य को पुरुषार्थ द्वारा पारदरस प्राप्त हो जाता है तब वह उसके ससर्ग से अपरिमित लोह-राशि को सुवर्ण बना बनाकर अपने समस्त ऐहिक प्रयोजन सिद्ध कर लेता है उसी प्रकार यह आत्मा भी ध्यानाग्नि मे शुद्ध हो मोक्ष रूप परम प्रयोजन को सिद्ध कर लेता है॥ १२॥

विपर्यस्तमत्युदीरितस्मृतीतीहासपुराणाभ्यासोत्पन्नव्युत्पत्तिविलासिनी-विलासलालसमानसा मीमांसका गङ्गागोदावरी-चन्द्रभागानर्म्मदादि-

सलिल स्वभावापगासङ्गमोदकस्नानाद्भवोच्छेदो भवतीतिभ्युपगच्छन्ति तान्निराचक्षाणाः सद्बोधपाथः पूरमन्थरितमसित्रिदशतीरिणीतीर्थस्थित-योगापगोपयोगभिषेकभाजां जन्मिनां जन्मवल्लरी मूलोन्मूलतां व्रजतीति ब्रुवाणा वैराग्येत्यादि ब्रुवानी सूरयः—

वैराग्यापारवारेः प्रशमदमदयोदीर्णमार्गत्रयायाः
सम्यग्ज्ञानोन्मदोर्म्मेर्मतिसुरसरितः सत्यतीर्थे स्थितानाम् ।
जन्मोच्छेदो नराणां द्रवदखिलमलस्वान्त संतोषभाजां
ध्यानस्नानुबन्धान्नहि भवति परां तीरिणीं याचितानाम् ॥१३॥

भवति । कः ? जन्मोच्छेदः जन्मप्रादुर्भावः उच्छेदो विनाशः संसाराभावः । केषाम् ? नराणां मनुष्याणाम् । किंभूतानाम् ? स्थितानामुपष्ठिानाम् । भूयः किंभूतानाम् ? द्रवदखिलमलस्वान्तसंतोषभाजाम् द्रवद् गच्छत्तदखिलं सकलं ज्ञानावरणादिरूपं कर्म (यस्मात्तत्) तच्च तत्स्वान्तं चेतः तस्य संतोषः अत्रामुत्रभोगानभिलाषः तं भजन्ति सेवन्त इति तेषाम् । कस्मात् ? ध्यानस्नानानुबन्धात् ध्यानं रत्नत्रयात्मकात्मचिन्तनं तेन स्नानं जलक्षालनं तस्यानुबन्धः प्रबन्धस्तस्मात् । नहि नैव पुनर्भवति । को ? भवाभावः । केषाम् ? नृणाम् । किं भूतानाम् ? याचितानाम् । का ? तीरिणीम् नदीम् । किंभूताम् ? अपरां जलात्मिकाम् । क्व ? सत्यतीर्थे सत्यं प्रतिगृहीतभावनिर्व्वाहावितथवचनं तीर्थं तीर्यते संसारसरिद् येन तत् तीर्थं श्रुतमर्हताम्, तस्मिन् । कस्या ? मतिसुरसरितः मतिरप्राप्तार्थ ग्राहिणी सैव सुरसरित् देवनदी तस्याः । किंभूतायाः ? वैराग्यापारवारेः वैराग्यं संसार-शरीरभोगोपभोगनिर्व्वेगः तदेवापारवारि, अपारमलभ्यतटं वारि पानीयं तदस्यास्तीति तस्याः । भूयः किंभूतायाः ? प्रशमदमदयोदीर्ण मार्गत्रयायाः प्रशमः रागादिकारणसंपातेऽपि रागाद्यनुदयः, दमः इन्द्रियाणां रूपादिविषयाप्रवृत्तिः, दयादुःखोपदिग्धप्राणिगणानुकम्पा, ता एव उदीर्णाः महन्तः मार्गाः पन्थानस्तेषां त्रयं तद्विद्यते यस्याः सा तस्याः ।

भूयः किंभूताया ? सम्यग्ज्ञानोन्मदोर्म्मेः सम्यग्ज्ञानं संशयविपर्ययानुध्यवसायव्यवच्छेदेन जीवादितत्त्वार्थाध्यवसानं तदेव उन्मदा उत्कटा ऊर्म्मिः कल्जोलमाला सास्या अस्ति तस्याः। हिमाचलचूलिकाचलनकेदारगिरिशिखरोपनिपातप्रयागत्रिशूलान्त्रान्दोलनादिभिः शरीरायासकारणैः भवभूरुहा लवालायमानैः जलात्मकजलवाहिनीजलस्नानैः तत्सवर्द्धनकारैः जलजातजन्तुजातहिंसनस्वभावैः न भविनां जन्मसन्ताननाशः। किन्तु सम्यग्ज्ञानोल्लोलकल्लोलमालिन्याः चरणचक्रवाकचारिण्याः मतिमन्दाकिन्याः तीर्थवासिनां शुद्धात्मानुचिन्तनाराः क्षालनविगलत्कर्ममलोपलेपानामेव मानवानां जननव्रतती तीव्रोन्मूलिततला भवतीति बंभणितवृत्त तात्पर्यार्थः ॥१३॥

आगे प्रज्ञा रूपी गगा नदी के तट पर स्थित रहने वाले मनुष्य ही ध्यान रूपी स्नान के प्रभाव से ससार का उच्छेद कर सकते है अन्य नदियो के तट पर स्थित रहने वाले मनुष्य नही ' यह कहते हुए ध्यान का महात्म्य बतलाते है।

'जिसमे वैराग्य रूपी अगाध जल भरा हुआ है, जो प्रशम दम और दया इन तीन मार्गो—प्रवाहों से वह रही हो, और जिसमें सम्यग्ज्ञान रूपी उत्ताल तरगे उठ रही है, ऐसी प्रज्ञा–भेद-विज्ञान रूपी गगा नदी के वास्तविक तीर्थ–घाट पर स्थित मनुष्यो के ही ध्यान रूपी स्नान के सम्बन्ध से जन्म मरण रूप ससार का उच्छेद होता है, क्योकि उन्ही के हृदय से समस्त मल दूर होते है और वे ही सतोष को प्राप्त होते है। अन्य नदियो की याचना करने वाले मनुष्यो का ससारोच्छेद नही होता।'

विशेषार्थ—लोक मे प्रसिद्धि है कि गगा नदी मे स्नान करने से मनुष्यों का ससार छूट जाता है—मुक्तावस्था प्राप्त

हो जाती है 'गंगास्नानान्मुक्ति ।' इसी प्रसिद्धि को ध्यान मे रखते हुए आचार्यदेव यहां रूपकालकार से वर्णन करते है कि जिस गगा मे स्नान करने से मुक्ति होती है वह गगा प्रज्ञा भेद-विज्ञान रूपी गंगा है । इस प्रज्ञा रूपी गगा मे वैराग्य रूपी जल भरा हुआ है । ससार शरीर और भोगो से उदासीनता होना वैराग्य कहलाता है । जहा यह प्रत्यय हुआ कि मै सच्चिदानन्द रूप पृथक् हूँ और ससार के प्रत्येक पदार्थ पृथक् है वहां ससार शरीर और भोगों से उदासीनता स्वय ही प्रकट हो जाती है । लौकिक गंगा का नाम त्रिमार्गगा है क्योकि वह ऊर्ध्व मध्य और पाताल मे वहने वाले तीन प्रवाहो मे बही है, यहा आचार्यवर्यने इस प्रज्ञा रूपी गगा के प्रशम, दम और दया ये तीन मार्ग वतलाये है । राग द्वेष के कारण मिलने पर भी राग द्वेष नही होना प्रशम कहलाता है । स्पर्शनादि पाचों इन्द्रियो की स्पर्शादि विषयो मे स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना दम कहलाता है और दु खी प्राणियो का दु ख दूर करने की इच्छा होना दया कहलाती है । जिस प्राणी के हृदय मे प्रज्ञा—भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है उसके प्रशम दम और दया रूप प्रवृत्ति अपने आप हो जाती है । जिस प्रकार लौकिक गगा नदी मे पवन के आघात से अनेक लहरे उठा करती है उसी प्रकार इस प्रज्ञा रूपी गगा नदी मे जीवाजीवादि पदार्थों के सम्यग्ज्ञान रूपी अनेक लहरे उठती रहती है । जो मनुष्य इस प्रज्ञा रूपी गगा नदी के तट पर स्थित है उनका हृदय अत्यन्त निर्मल हो जाता है—शङ्का कांक्षा विचिकित्सा आदि दोष

उनके हृदय से दूर हो जाते है और उनकी आत्मा मे स्वानुभूति के प्रकट हो जाने से बहुत भारी सतोष उत्पन्न हो जाता है। वे विचार किया करते है कि मेरी आत्मा स्वयं अनन्त सुख का भंडार है, पर पदार्थो से सुख की आकाक्षा करना बालू से तेल निकालने के समान है। ऐसे मनुष्यों का ध्यान बाह्य पदार्थो से हट कर शुद्धात्मस्वरूप मे स्थिर रहने लगता है, और वे क्रम से घातिया कर्मो को नष्ट कर अर्हन्त अवस्था प्राप्त कर लेते है तथा कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक देशोन कोटि वर्ष मे अपने जन्म मरण रूप ससार का उच्छेद अवश्य ही कर देते है। जो मनुष्य अन्य नदियो से ससारोच्छेद की याचना करते है उनका मनोरथ पूर्ण नही हो सकता ॥ १३ ॥

ज्ञानादन्यस्यज्ञेयस्यासंभवो, ज्ञानमेवज्ञेयमिति तद्ग्राहक प्रमाणसद्भावात्। तथाहि ज्ञानं ज्ञेयात्मकमेव (प्रतिभासमानत्वात्। यत्) प्रतिभासते तज्ज्ञानं यथासुखादि, अवभासते चाक्षयस्वभावं विश्वं तस्माज्ज्ञानात्मकमेवेति विज्ञानमेवलक्ष्यं प्रतिपद्यन्ते विज्ञानाद्वैतवादिनः तान् निराचिकीर्षवो लक्ष्यमित्य दि रंरणन्त्याचार्याः—

लक्ष्यं त्रैलोक्यमर्थोऽस्य [1]मुहुरवयवः पर्ययस्तस्य कश्चित्
यच्चित्तस्याग्रनासानयननिलयने रूपकेऽणुस्ततो हृत्।
स्वं ध्यानी तद्विसृज्य प्रविश(स)रणवशाज्जन्मबीजं पिनष्टि
स्वस्मिस्तत्सर्वसत्त्वोत्सवकरचरितश्चैकमासीद्दधानः ॥१४॥

आसीत् संजातम्। किम्? लक्ष्यं परिच्छेद्य मालम्बनम्। कस्य? यस्य चित्तस्य यच्चेतसः। किम् त्रेलोक्य त्रिशत त्रिचत्वारिंशद-

---

१ पुनरवयव० त०।

धिकचतुर्दशरज्जुप्रमाण घनैकाकारोत्सेधोर्ध्वमध्याधोभेदभिन्नमुरजझल्लरी-वेत्रासनाकारामरासुरनरनारकतिरश्चामाधिवासभवनं त्रिभुवनम्। पुनः किंभूतम्? एकम् एकसंख्यम्। भूयः किम्? अवयवो भुवनावयवः। मुहुः किम्? तस्यावयवस्य कश्चिदविवक्षितः पदार्थोजीवादिः। पुनरपि किं? पर्यायो विवर्तः। कस्य? जीवाजीवादेः। क्व? अग्रनासानयननिलयने अग्रं प्रान्तं नासा नासिका नयनं लोचनं तयोर्निलयनं स्थानं तस्मिन्। किंभूते? रूपके रूपिस्वभावे। को? अणुः परमाणुः। कुतः? ततो हृत्। तस्मात्कस्मात्? अग्रनासानयननिलयनहरणात्। पश्चात् किं करोति? पिनष्टि चूरयति। किम्? जन्मबीज जननं तत्प्ररोहहेतुः। को? ध्यानी। किं भूतः? आदधानो धारयमाणः। कम्? स्वम् आत्मानम्। कस्मिन् स्वस्मिन्नात्मनि। कि कृत्वा? विसृज्य त्यक्त्वा। किं तत्? त्रैलोक्यादिलक्ष्यम्? कस्मात्? प्रविसरणवशात्। प्रविसरणं चलनं वशः आपत्तः प्रचारायत्तात्। भूयः किभूतः? सर्वसत्त्वोत्सवकरचरितः सर्वे समस्ताः ते सत्त्वाः जीवाः तेषाम् उत्सव आनन्दस्तत्करोतीति तत्करं चरितमनुष्ठानं यस्य सः। त्रिभुवनैकभुवनावयवतत्पदार्थपर्ययलक्षण-लक्ष्यस्य अनादिसिद्धत्वं सदवबोधकप्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणपञ्चकदुर्ग्रहगृहीताहंत्सर्वज्ञाप्तोक्तत्वेन प्रमाणग्राह्यत्वादिति तत्तल्लक्ष्यतामुपनीय मनसि नयननासान्तराला नुगमनात्पश्चात्तदखिलपरित्यज्यात्मानमात्मनि व्यवस्थापयन्तः योगीश्वराः सकलजनानन्दोत्पादनचारुचरिताः भवांकुरकारणं पिषन्तीति परिकलितार्थवृत्तसंकलितार्थः ॥१४॥

आगे ध्यान का विषय बतलाते हुए आत्म-ध्यान का फल प्रकट करते है—

‘जिसमें नासा के अग्रभाग पर नेत्र स्थिर हो जाते हैं, ऐसे ध्यान के समय जिसके चित्त का विषय प्रारम्भ मे तीन लोक रहता है, फिर घटकर लोक का अवयव भूत कोई जीवादि

पदार्थ रह जाता है, फिर घट कर उसकी कोई एक पर्याय रह जाती है, फिर उससे भी घट कर पुद्गल द्रव्य का परमाणु रह जाता है। और अन्त मे चञ्चलता का कारण समझ उस परमाणु को भी छोड कर जो एक अपनी आत्मा को ही अपनी आत्मा मे धारण करता है वह समस्त जीवो के लिये आनन्ददायी चरित को धारण करने वाला महायोगी ही ससार के बीज को नष्ट करता है।'

विशेषार्थ—ध्यानी मनुष्य पद्मासन अथवा कायोत्सर्गासन से अवस्थित होता है, वह अपनी दृष्टि को सब ओर से हटाकर नासा के अग्रभाग पर स्थिर करता है, क्योकि ऐसा करने से उसका चञ्चल मन किसी एक पदार्थ मे स्थिर होने लगता है। प्रारम्भ मे ध्यानी मनुष्य अपना चित्त तीनसौ-तेतालीस घनरज्जु प्रमाण त्रिभुवन मे स्थिर करता है अर्थात् तीन लोक के स्वरूप का चिन्तवन करता है, पश्चात् अपने उपयोग को स्वोन्मुख करने की दृष्टि से त्रिभुवन का ध्यान छोड कर उस का अवयव भूत जो जीवादि पदार्थ है उसे अपने ध्यान का विषय बनाता है, तदनतर उस जीवादि पदार्थ की त्रिकाल विषयक अनन्त पर्यायों मे से किसी एक पर्याय पर अपना उपयोग स्थिर करता है, पश्चात् विषय को और भी सूक्ष्म करता हुआ पुद्गल द्रव्य के परमाणु को ध्यान का विषय बनाता है अर्थात् परमाणु के आकार, गुण तथा अविभाग प्रतिच्छेद आदि का विचार करता है। तदनन्तर विचार करता है कि इन बाह्य पदार्थों मे चित्त की स्थिरता करने से क्या लाभ है? आत्म-

स्वरूप में ही चित्त को स्थिर करना चाहिये ऐसा विचार कर वह परमाणु से भी अपने हृदय को हटा लेता है और अपनी आत्मा को अपनी आत्मा मे ही धारण कर लेता है । उस समय उसका उपयोग सर्व प्रकार से स्वोन्मुख हो जाता है । शुद्धात्म-स्वरूप मे लीन होने के कारण उसके सन्निधान मात्र से समस्त जीव आनन्दनिमग्न हो जाते है, परस्पर का वैर-विरोध भूलकर सब प्रेम से हिलमिल जाते है । आचार्य कहते है कि इस प्रकार के ध्यानी मनुष्य ही ससार के वीज को नष्ट करते है अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर जन्म-मरण के अनन्त दु खो से विमुक्त हो जाते है ॥ १४ ॥

यद्ध्यानानुध्यानाद्धि मेरुमूलस्थित गोस्तनाकारानुकारिप्रदेशान् विहाय चराचर त्रिभुवनोदरे नित्येतरनिगोदविकलकरणसमनस्कामनस्कपञ्चाक्ष-तिर्यक्षूत्पत्तिर्जन्मिनां, यस्माच्च रत्नप्रभादितमस्तमः प्रभान्ताश्रितातिशीत-वातोष्णप्रबन्धसहजमानस क्षेत्रोत्पन्नान्यूनान्योऽन्योदीरितासातसक्लि-ष्टासुरोदीरितदुःखसीमन्तरौरवश्वभ्रविवरेषु हुण्डसंस्थाननपुसकविकृति नारकेषु भवति प्रादुर्भावो भविनाम्, यतो हि कल्पाकल्पोपकल्पितसौधर्मादि सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तभर्मभित्तिभास्वर रत्नोद्योतद्योतितारापथ दिगन्तरा-लामानविमानेषु उपपादिकोत्पादभवप्रत्ययावधिबोधप्रबुद्धवन्धुरबोध्यसहा-विर्भूतप्रालम्बकुण्डलकटककेयूरहाराङ्गदादिषोडशभूषणभूषिताऽणिमादि - गुणाष्टकोपेतदिव्यदेहसौन्दर्यावलोकनोर्जितवृन्दारकवृन्दवदनोदीर्णाशीर्वाद - मुखरदेवाङ्गनाकलकलोच्छलद्बहलमङ्गलालापोद्भूतामन्दानन्दमोद-मानसम-न्दारमालालीनालिकुलाकुलिततिरीटलटाः दिवि देवाः संपनीपद्यन्ते देहिनः (यतश्च) अनन्तचतुष्टयात्मकसम्यक्त्वाद्यष्टगुणोपेताव्याबाधत्वशिवाक्षयसू-क्ष्मशुद्धात्ममात्रतन्त्रो मोक्षो जंजन्यते जन्तूनामिति तद्ध्यानं किं संख्यं

किं स्वरूपं कुतो वा जायत इति शिष्येण पृष्टा इव सूरय एकमित्याद्याचक्षते—

एकं चिन्तानिरोधात्पुनरिदमुभयं ध्यानमान्तर्मुहूर्तं
सद्भूयोऽदश्चतुर्धा पुनरिदमपरे षोडशांशं ध्वनन्ति ।
तिर्यक्श्वभ्रद्यु मोक्षप्रदमवहिततोद्योग साम्येऽपि धर्म्यं
धूमध्वान्तस्वभावातदपि दशविधं वह्निभानुक्रमेण ॥१५॥

स्याद् भवेत् । किम् ? ध्यानम् । किंसंख्यम् ? एकम् । कस्मात् ? चेतोनिरोधात् चिन्तावरोधात् । कुतः ? उत्तमसंहननमाद्यं त्रिसंहननम् । किं तत्त्रयम् । वज्रवृषभनाराच संहननं वज्रनाराच संहननम् । तस्या एकाग्रम् एकमग्रं मुख यस्य । नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती तस्याः अशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्ता निरोध इत्युच्यते । अनेन ध्यानस्वरूपमुक्तं भवेत् । मुहूर्तमितिकालपरिमाणः । अन्तर्गतो मुहूर्तं अन्तर्मुहूर्तः, आ अन्तर्मुहूर्तं आन्तर्मुहूर्त्तः । ततः परं दुर्द्धरत्वादिति । चिन्ताया निरोधो यदि ध्यान निरोधश्चाभावः तेन ध्यानमसत् खरविषाणवत् स्यात् । नैष दोषः, अन्यचिन्तापेक्षयाऽसदित्युच्यते स्वविषयाकारापेक्षया सदिति । भावान्तरस्वभावत्वात्तदभावस्य अथवा नायं भावसाधनो निरोधनं निरोधः । किं तर्हि ? निरुद्ध्यत इति निरोधः । चिन्ता सा चासौ निरोधश्च चिन्तानिरोधः । एतदुक्तं भवति ज्ञानमेवापरिस्पन्दमानमपरिस्पन्दाग्निशिखावद् भासमानं ध्यानमिति । भूयः किंभूतम् ? इदम् प्रत्यक्षीभूतम् । कथं पुनः ? पश्चादुभयं द्वयात्मकं शुभाशुभभेदात् । पुनः किम् ? अदः एतत् । कथम् ? चतुर्धा चतुर्भिः प्रकारैः आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लभेदात् । कथं भूयः ? पुनरपि मुहुः किं भूतम् ? षोडशांशम् षोडश अंशा भेदा यस्य । आर्त्तस्य चत्वारोभेदास्तथारौद्रधर्म्यशुक्लस्यापि तथैव । ध्वनन्ति कथयन्ति अपरे अन्ये आचार्याः । किं धर्म्यम् ? धर्मादनपेतं तत् । तत्किंप्रकारं ? दशविधं दशप्रकारम् । 'उत्तमक्षमामार्दवा-

र्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्म' इति वचनात् । किं भूतं चतुर्विधं ध्यानम् ? तिर्यक्श्वभ्रद्युमोक्षप्रदम् । तान् प्रददातीति(प्रदम) कस्मिन्नपि ? अवहिततोद्योगसाम्येऽपि अवहितता तस्यां उद्योग उद्यमः तस्य साम्येऽपि तुल्यतायामपि । कुतो ? यतो जनयति । कि तच्चतुर्विधं ध्यानम् ? आर्त्तरौद्ररूपं । यत् किम् ? ध्वान्तं धूमं यतस्तिर्यक्षूत्पन्नप्राणी अज्ञानात्मध्वान्तस्वभावो नारकेषु भवः अन्धकारः श्वभ्रधूमावृत्तः । नन्वेवम् । कि परम् ? अन्यद्धर्म्यशुक्लरूपम् । किं तत् ? केन ? वह्निभानुक्रमेण अग्निभास्करस्वभावेन । कथमनेकस्यैक स्वभावता ? अनुध्यानसामान्यस्य सर्वत्राप्यविशेषादित्येकत्वं न विरुध्यते । सामान्यस्याशेषविशेषनिष्ठत्वादनेकार्त्तरौद्रादिभेदस्योपपत्तिरविरुद्धेति । ध्यानचतुष्टयस्यैकाग्रतातुल्यतायाम् तत्रादौध्यानद्वयं तैरश्चीं नारकीं च गतिमुत्पादयति तनूभृतां तथाविधस्वभावत्वात् संध्याचित्रभानुध्वान्तधूमवत् । धर्मशुक्लस्वभावानुचिन्तनं दैवी .शिवमयी च गतिं प्रादुर्भावयति भव्यात्मना शिशिररश्मिसहस्रकिरणाविव प्रकाशमिति प्रकाशितवृत्तसंहृत्यर्थः ॥१५॥

आगे ध्यान के स्वरूप, काल, भेद और स्वभाव का वर्णन करते है—

'किसी एक पदार्थ मे चित्त की गति के रुक जाने को ध्यान कहते हैं। यह ध्यान एक पदार्थ मे अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है; क्योंकि उससे अधिक समय तक एक पदार्थ मे चित्त स्थिर नही रह सकता, नियम से चचल हो उठता है। वह ध्यान सामान्य की अपेक्षा एक प्रकार का है। फिर शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। यही ध्यान आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का है। इनमें से प्रत्येक के चार चार भेद होने से कोई आचार्य ध्यान के सोलह भेद कहते है।

यह आर्त्त आदि चार प्रकार का ध्यान क्रमशः तिर्यञ्च, नरक स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला है। जो धर्म से सहित होता है उसे धर्म्यध्यान कहते है वह उत्तम क्षमा आदि के भेद से दश प्रकार का है। यद्यपि इन चारो ध्यानो मे चित्त की स्थिरता का उद्योग एक समान रहता है तो भी आर्त्तध्यान धूम के समान है, रौद्रध्यान अन्धकार के समान है, धर्म्य ध्यान अग्नि के समान है और शुक्ल ध्यान सूर्य के समान है।'

विशेषार्थ—ध्यान का लक्षण प्रकट करते हुए उमास्वामी आचार्य ने कहा है 'उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यान मान्तर्मुहूर्त्तात्' अर्थात् उत्तम संहनन के धारक जीव की अन्त-मुहूर्त तक जो किसी एक पदार्थ मे चित्त की गति रुक जाती है—स्थिर हो जाती है उसे ध्यान कहते है। उत्कृष्टता की अपेक्षा यह ध्यान उत्तम सहनन वाले जीव के ही होता है। उत्तम सहनन से आदि के तीन सहननो—वज्रर्षभनाराच सहनन से, वज्रनाराच सहनन और नाराच सहनन का ग्रहण होता है। इस सूत्र मे ध्यान का लक्षण, ध्यान का स्वामी और ध्यान का काल इन तीन बातो का निरूपण किया गया है। सामान्य की अपेक्षा से यह ध्यान एक ही प्रकार का होता है, फिर शुभ और अशुभ की अपेक्षा से दो प्रकार का होता है अशुभ ध्यान अशुभ गति का कारण है और शुभ ध्यान शुभ गति—स्वर्ग और मोक्ष का कारण है। अशुभ ध्यान आर्त्त और रौद्र के भेद से दो प्रकार का है और शुभ ध्यान धर्म्य तथा शुक्ल के भेद से दो प्रकार का है, इसप्रकार दोनो को मिला देने पर ध्यान चार

प्रकार का हो जाता है। आचार्यवर्य उमास्वामी ने इष्ट वियोगज, अनिष्ट सयोगज, वेदनाज और निदानज के भेद से आर्त्त ध्यान के चार भेद बतलाये है। इष्ट पदार्थ का वियोग हो जाने पर उसके संयोग के लिए चित्त की जो स्थिरता होती है उसे इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान कहते है। अनिष्ट पदार्थ का सयोग होने पर उसके वियोग के लिए चित्र की जो स्थिरता होती है उसे अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान कहते है। किसी व्याधि आदि से होने वाली वेदना को दूर करने के लिए चित्त की जो स्थिरता होती है उसे वेदनाज अर्त्तध्यान कहते है और भविष्य मे भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त करने के लिए चित्त की जो स्थिरता होती है उसे निदानज आर्तध्यान करते है। हिसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी के भेद से रौद्रध्यान के भी चार भेद बतलाये है। किसी शत्रु आदि के हिसा करने के लिए चित्त की जो स्थिरता होती है वह हिसानन्दी रौद्रध्यान है। असत्य बोलने के लिए चित्त की जो स्थिरता होती है उसे मृषानन्दी रौद्रध्यान कहते है। चोरी के लिए जो चित्त की स्थिरता है उसे चौर्यानन्दी रौद्रध्यान कहते है और धनधान्यादि परिग्रह के अर्जन तथा रक्षरण मे चित्त की जो स्थिरता होती है उसे परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान कहते है। आज्ञा विचय, अपाय विचाय, विपाक विचय और सस्थान विचय के भेद से धर्मध्यान के चार भेद है। असत्य कथन के मुख्य कारण कषाय और अज्ञान है। जिनेन्द्र देव के मोहनीय-कर्म का सर्बथा क्षय हो जाने से कषाय का अभाव हो गया है और ज्ञानावरण

कर्म का अत्यन्त क्षय हो जाने से केवलज्ञान प्रकट हो गया है अत उनके न कषाय है और न अज्ञान ही। फलत उन्होने जिन सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थो का निरूपण किया है वह यथार्थ है और आज्ञा मात्र से ग्राह्य है, इस प्रकार विचार करते हुए परमागमपुणीत पदार्थ मे जो चित्त की स्थिरता होती है वह आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान है। चतुर्गति रूप ससार मे भ्रमण करने वाले जीवो के दु.खो का चिन्तवन करते हुए उनमे जो चित्त की स्थिरता होती है उसे अपाय-विचय धर्म्यध्यान कहते है। ज्ञानावरणादि आठ मूलकर्मो तथा उनके मतिज्ञानावरणादि उत्तरभेदो के विपाक का—फल का चिन्तवन करते हुए उसमे जो चित्त की एकाग्रता हो जाती है वह विपाक-विचय नाम का धर्म्यध्यान है, और तीन लोक तथा तत्तत् लोक सम्बन्धी विभिन्न अशो का विचार करते समय उनमे जो चित्त की गति रुक जाती है—स्थिर हो जाती है उसे सस्थान-विचय धर्म्यध्यान कहते है। पृथक्त्व-वितर्क वीचार एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती और व्युपरत-क्रियानिवर्ती के भेद से शुक्लध्यान के भी चार भेद है। वितर्क शब्द का अर्थ श्रुत–शास्त्र होता है और वीचार का अर्थ—अर्थ, व्यञ्जन-शब्द और योग का सक्रमण है। जिसमे शास्त्र के किसी शब्द अथवा अर्थ को लेकर मन वचन काय से चिन्तन करते हुए उपयोग की स्थिरता होती है उसे पृथकत्व-वितर्क वीचार शुक्लध्यान कहते है। यह तीन योगों से होता है और अपूर्वकरण गुण-स्थान से लेकर उपशान्तमोह गुण-स्थान तक रहता है। इसके प्रभाव से मोहनीयकर्म का

उपशम अथवा क्षय होता है, कषाय का अभाव हो जाने से जिसमे अर्थ, व्यञ्जन और योगो की सक्रान्ति छूट जाती है। तीन योगो मे से किसी भी एक योग के द्वारा आगम के किसी भी शब्द अथवा अर्थ को लेकर जो उपयोग की स्थिरता होती है उसे एकत्ववितर्क शुक्लध्यान कहते है। यह बारहवे क्षीण-मोह गुणस्थान मे होता है। इसके प्रभाव से अवशिष्ट तीन घातिया कर्मो का क्षय होकर अर्हन्त अवस्था की प्राप्ति होती है। बारहवे गुणस्थान के बाद मनोयोग का अस्तित्व नही रहता। केवल वचनयोग और काययोग का अस्तित्व रहता है। जब तेरहवे गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्तमात्र काल बाकी रह जाता है तब वचनयोग नष्ट हो जाता है, केवल काययोग रह जाता है और धीरे धीरे वह काययोग भी सूक्ष्म होता जाता है। इस प्रकार जब केवल काययोग की सूक्ष्म अवस्था अवशिष्ट रह जाती है तब सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती नामका तीसरा शुक्लध्यान प्रकट होता है। इसके प्रभाव से जिनेन्द्रदेव के असख्यात गुणी निर्जरा होती है। अन्तर्मुहूर्त तक यह अवस्था रहने के बाद धीरे धीरे सूक्ष्म काययोग भी नष्ट हो जाता है, पूर्ण अयोग अवस्था प्रकट हो जाती है। उस समय व्युपरत-क्रियानिवर्ती नाम का चौथा शुक्लध्यान प्रकट होता है। इसके प्रभाव से उपान्त्य समय मे ७२, और अन्त्य समय मे १३ इस प्रकार ८५ प्रकृतियो का क्षय होकर लघुअन्तर्मुहूर्त मे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार चारों ध्यानो के चार चार ध्यान मिलाने से ध्यानके सोलह भेद होते है ऐसा कितने ही आचार्यो ने निरूपण किया है।

आर्तध्यान तिर्यञ्च गति का कारण है, रौद्रध्यान से नर काय़ु का बन्ध होता है, धर्म्यध्यान देवायु का कारण है और शुक्लध्यान मोक्ष का कारण है। धर्म्यध्यान के उक्त चार भेदो के सिवाय उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश भेद और है। क्रोध कषाय का निमित्त मिलने पर भी हृदय मे कलुषता की उत्पत्ति नही होना उत्तम क्षमा है। मान का निमित्त रहते हुए भी ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ वस्तुओ का अहकार उत्पन्न नही होना उत्तम मार्दव है। छल-कपट का अभाव होना सो उत्तमआर्जव है। लोभ कषाय पर विजय प्राप्त कर सतोष धारण करना उत्तम शौच है। कषाय के वशीभूत होकर असत्य भाषण नही करना सो सत्य धर्म है। पाच स्थावर और एक त्रस इस प्रकार छहकाय के जीवो की हिसा नही करना तथा पाच इन्द्रियो और मन को वश मे रखना सो उत्तम सयम है। बढती हुई इच्छाओ का निरोध कर अनशन, ऊनोदर आदि बाह्य तपो का तथा प्रायश्चित्त आदि अन्तरङ्ग तपो का धारण करना उत्तम तप है। कीर्ति तथा प्रत्युपकार की वाञ्छा न रख कर आहार-औषधि-शास्त्र तथा अभय ये चार प्रकार के दान करना सो उत्तम त्याग धर्म है। समस्त परिग्रह का त्याग कर मूर्च्छा रहित होना सो उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है और स्त्री मात्र का त्याग कर शुद्धात्म स्व-रूप-ब्रह्म मे चरण करना-रमण करना-लीन रहना सो उत्तम

ब्रह्मचर्य धर्म है।

यद्यपि इन आर्त, रौद्र आदि सभी ध्यानो मे चित्त को स्थिरता की समानता है तो भी फल की विभिन्नता से इनमे विभिन्नता सिद्ध होती है। आर्त ध्यान का स्वभाव धूम के समान है इससे तिर्यञ्च आयु का बन्ध होता है। रौद्र ध्यान का स्वरूप अन्धकार के समान है इससे नरकायु का वन्ध होता है। धर्म्यध्यान का स्वभाव अग्नि के समान है इससे अन्तरात्मा मे प्रकाश होता है तथा कर्मो की निर्जरा होती है और शुक्लध्यान सूर्य के समान है इससे लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त होता है और अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥

मिथ्यात्वतमःस्तोमतिरस्करणतरुणतरणिभिः सम्यग्दर्शनाद्यमलरत्नरत्नाकरैः विशदस्याद्वादकुमुदसन्दोहमोदनसोमदेवैः सोमदेवसूरिभिश्चेतोनिरोधलक्षण ध्यान पूर्ववृत्तेऽभिहित तद्व्याख्यातुकामैरेकत्रस्थैर्यसारेत्युदीरितम्—

एकत्र स्थैर्यसारा मतिरभिलषिते चञ्चला वस्तुतस्त्वे
ध्यातु व्यावर्त्य चित्तं विविधनयमनुप्रेक्षणं चिन्तनं [1]तत् ।
संप्रश्नो भावना वा श्रुतविदित पदालोचनं स्थापना वा
ध्यानाधीना अमी तत् समभिदधुरघौघादनं ध्यानमीशाः ॥१६॥

समभिदधुः उक्तवन्तः। के ? ध्यानाधीनाः ध्यानाधिनायकाः। अमी प्रत्यक्षीभूताः। किं तत् ? ध्यानम् एकद्विचतुः षोडशदशभेदं यत्। सा का ? या मतिः बुद्धिः ? कि विशिष्टा ? स्थैर्यसारा स्थिरतरा अचलेत्यर्थः।

१ वु० त०।

क्व ? एकत्र एकस्मिन् वस्तुतत्त्वे । वस्तु जीवादि तस्य तत्त्वं त्रैलक्षण्यं तस्मिन् ..किंभूते ? अभिलषिते । ध्यातु वाञ्छितुं व्यावर्त्य शुभाशुभाविर्भाव स्वभावाभिरामानभिरामभामिनीकुम्भीनसादिभ्यः । किम् ? तत् चित्तम्, तत् प्रसिद्धम्, चेतोऽनुध्यानम् । का ?.या मतिर्धिषणा । किंभूता ? चञ्चलाचलात्मिका । कदाचित् त्रिभुवनमभिभ्राम्यति । कदाचिद् द्रव्यमवगाहते कदाचिच्च चिदचिद्रूप पर्यायं चेतयत इत्यर्थ. । कथ नु पुनः न केवलं चित्तं, कि तु भावना वा मुहुर्मुहुः तत्तदर्थपरामर्शनमेव किन्तु विविविधनयमनुप्रेक्षणमवलोकनम् । कि भूतं विविधनयम् । विविधा नानाप्रकारा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकभेदास्ते च ते नयाश्च । नीयते । निश्चीयते नित्यानित्यात्मकमेव वस्तु यैस्ते नयाः । ते विद्यन्ते यस्मिन् तत् । न केवलं कितु चिन्तनं पिण्डरूपस्थादिरूपतया पुनः पुनः पर्यालोचनमेव । न परं किं तर्हि संप्रश्नः पदस्थस्वभावोऽन्तर्जल्पात्मकोऽर्हन्नित्यादिपदाभ्यासः । ना सहायः कि सश्रयः आश्रयः ? अर्हद्रूपात्मकत्त्वेनात्मनः परिणामः । न (केवलं) कि तु ? श्रुतविदितपदालोचन श्रुतं द्वादशाङ्गादिशास्त्र, श्रुते विदितानि विज्ञातानि तानि च पदानि णमो अरहंताणमित्यादीनि तेषामालोचनं दर्शनस्मरणमित्यर्थः । न परम् अपितु ख्यापना वा कथनैव । ध्यानसन्तानात्मकत्वेन एकस्मिश्चेतनाचेतनात्मके पदार्थे ध्रौव्यात्मिका बुद्धिर्ध्यानम् । अपरस्या ध्रुवाध्रुवाधिकरणधिषणाया भावनाचिन्तनानुप्रेक्षणध्यानाभिधानादिति विचारितार्थवृत्तसंतानार्थः ॥१६॥

आगे ध्यान के इसी स्वरूप को विस्तार से कहते है—

इष्टानिष्ट पदार्थो के ध्यान से चित्त को हटाकर किसी एक अभिलषित पदार्थ मे इस चञ्चल बुद्धि—मनोगति को स्थिर करना, अनेक नयो के साथ वस्तुस्वरूप का अवलोकन करना, पिण्डस्थ, पदस्थ आदि रूप से वस्तुस्वरूप का बार बार पर्यालोचन करना, सप्रश्न—अन्तर्जल्प रूप से 'अर्हन्' इत्यादि पदों

का अभ्यास करना, उसी की भावना करना, आगम प्रसिद्ध 'णमो अरहताणम्' आदि पदो का मनन करना और उन्ही का कथन करना 'यह सब पाप समूह को नष्ट करने वाला ध्यान ही है, ऐसा ध्यान के अधिनायक श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।'

विशेषार्थ—ससारी प्राणी बाह्य पदार्थो को सुख दु ख का कारण मानता है इसलिये जिन पदार्थो के ससर्ग से कुछ दु ख का अनुभव होता है उन्हे अनिष्ट मान बैठता है। इन कल्पित इष्ट-अनिष्ट पदार्थो के सयोग से चित्त मे सदा चञ्चलता बनी रहती है और चूँकि चित्त की चञ्चलता ही ध्यान का बाधक है इसलिये ध्यान का अभ्यास करने वाले पुरुषों को सर्वप्रथम यह विश्वास रखना चाहिये कि सुख और दु ख आत्मा के स्वाभाविक वैभाविक गुण है। उनका आविर्भाव और तिरोभाव आत्मा मे ही होता है। बाह्य पदार्थ तो निमित्त मात्र पडते है अत उनके सयोग-वियोग मे हर्ष विषाद नही करना चाहिये। इस प्रकार बाह्य पदार्थो से चित्त को हटाकर त्रिभुवनगत किसी भी वस्तु-तत्त्व मे अपनी चञ्चल बुद्धि को स्थिर करना ध्यान है। यह त्रिभुवन रूप ससार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यो से अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो से समन्ताद् भरा हुआ है। ससार के ये सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिलक्षण से युक्त है। ध्यानाभिलाषी मनुष्य इनमे से जिस किसी पदार्थ का ध्यान करना चाहता हो उस पर अपनी बुद्धि को स्थिर करे। उसका ऐसा करना ध्यान का एक प्रकार है।

वस्तु के एक देश को निरुपण करने वाला श्रुत का प्रकार नय कहलाता है। उसके द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, निश्चय, व्यवहार तथा नैगम, संग्रह आदि अनेक भेद है। इन विविध नयों द्वारा वस्तु स्वरूप का दर्शन करना भी ध्यान है। पिण्डस्थ, रूपस्थ, रूपातीत आदि के द्वारा जिनमुद्रा आदि का ध्यान करना भी ध्यान है। विभिन्न प्रकार के मन्त्रो तथा आगम निरूपित पदों का पुन पुन चिन्तन करना, उनकी भावना रखना और उनका कथन आदि करना· यह सब ध्यान है क्योकि इन् सभी मे चित्त की स्थिरता अपेक्षित रहती है। यह ध्यान पाप-पुञ्ज को जलाने वाला है—कर्म-निर्जरा और कर्म-क्षय का साक्षात् कारण है ॥ १६ ॥

सकलकालकलाकलनकलैः किल लोकालोकावलोकिकैवल्यकलैः सकलज्ञैरनेकसमयावलिकादिरूपः कालः संकलितोऽस्ति। तथाहि अणोरण्वन्तरव्यतिक्रमविभागरूपः समय·। असंख्यातसमयैरावली, संख्यातावलिसमूहैतच्छ्वास·, सप्तोछ्वासैः स्तोक·, सप्तस्तोकैर्लवः कथितः, सार्द्धष्टत्रिंशल्लवाभिः(वै·) घटिकाप्रमा। द्विघटीको मुहूर्त्तो (ऽन्तर) मुहूर्तस्तु समयविकलः सोऽपि हि भिन्नमुहूर्तस्तती नियतम्। अन्तर्मुहूर्तस्त्वनेकविधः दिननिशीथिनीपक्षमासर्त्त्वयनसम्वत्सरप्रभृतिरिति। तत्रैतेषु मध्ये कियान् ध्यानस्य काल इति धीमता विनेयेनोक्ता इव कालोऽस्त्येत्युक्तवन्तः सूरयः—

कालोऽस्यान्तर्मुहूर्त्तः परम इह परः पञ्चलध्वक्षरः स्या-
च्चित्तानां दुर्धरत्वादतिचपलतया तत्परो नास्ति कालः।
तावन्मात्रेऽपि काले हुतभुगिव भवेत् ध्यानमुच्चैरघानां
ध्वंसायोर्वीधराणां ज्वलदचलतया वज्रसंपात जन्मा ॥१७॥

स्याद् भवेत्। कः ? कालोऽवधिभूतः। किंभूतः ? अन्तर्मुहूर्तः कोऽय-

मीदृक्षः ? द्वयादि समयहीनद्विघटीकः कालोऽन्तर्मुहूर्तः । भूयः किंभूतः ? परमः उत्कृष्टः । कस्मिन् ? किमियानेव उतान्योऽपि ? अस्ति । कः ? परोऽन्यो जघन्यः । किं विशिष्टः ? पञ्चलघ्वक्षरः पञ्चलघ्वक्षरा यस्य स तथोक्तः । के अमी ? अ इ उ ऋ लृ रूपाः । उत्कृष्टापकृष्टरूपः इयानेव कालः । कस्य ? अस्यध्यानस्य । कुतः ? दुर्धरत्वात् । दुःखेन ध्रियते दुर्धरं तस्य भावः तस्मात् कृच्छ्रावरोधत्वादित्यर्थः । केषा चित्तानां चेतसाम् कया ? अतिचपलतया अतिचपलत्वेन । कुतो ? यतो मनो मर्कटवच्चलस्वभावम् । अभिरामरामारामेषु रमणाय रंरणतीति तस्मात् नास्ति न विद्यते । कः कालः । किं भूतः ? परो द्वितीयः प्रहरदिनरजन्यादिरूपः । किलैतावति काले कथं गुरुतरं कर्मराशिं नाशयति ध्यानमित्याहु । तावन्मात्रेऽपि काले इति—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समयेऽपि स्याद् भवेत् । कि ? ध्यानं चिन्तनम् धर्म्मशुक्लस्वभावम् । किमर्थम् ? ध्वंसाय विनाशाय । कथम् ? उच्चैरित्यर्थः । केषाम् ? अघानां जन्मजन्मान्तरार्जितैनसः संचयानाम् । इव शब्दो यथार्थे यथा भवति विध्वंसाय । को ? हुतभुक् हव्यवाट् । कि भूतो ? वज्रसंपातजन्मा वज्रं पविस्तस्य संपातः ! सघट्टजन्योत्पत्तिः । दम्भोलिदलनोद्भूत इत्यर्थ । केषाम् ? उर्व्वीधराणाम् उर्वी भूस्तां धरन्तीति धराधरा (तेषाम्) कया ? ज्वलदचलतया ज्वलद्दीप्यमानमचलं स्थिरतरं तस्य भावस्तया भास्वरस्थिरतररूपेणेत्यर्थः । वासररजनीमासार्द्धमाससुरभि दक्षिणायनसमायुगावधिः ध्यानं धर्तुं न पार्यते । चलाचलात्मतयैकत्र स्थैर्यस्वभावेन चेतसो व्यवस्थापयितुं न शक्यतेरतोऽन्तर्मुहूतवधिकः कालो ध्यानस्योत्तमोऽन्योमातृकपञ्चवर्णोच्चारावसेयः । समयोऽनुत्तमः तावन्मात्रः समयः । संजातोऽपिधर्म्यशुक्लध्यानेद्धधूमध्वजो भवभवार्जित प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशतया राशीभूतानि कर्मेन्धनानि भस्मसाद्भावं प्रापयन्नेव यथा पुरन्दरप्रहरणप्रहारेण संपन्नोऽपांपवित्तस्तृणराशिं भूतिस्वभावतां नयतीति निर्णीतवृत्ततात्पर्यार्थः ॥१७॥

आगे ध्यान का काल बताते है—

'इस ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है और जघन्य काल पाच लघ्वक्षरो के उच्चारण काल के बराबर है । यत: अत्यन्त चञ्चल होने के कारण चित्त अत्यन्त दुर्धर है–एक स्थान पर उसका रोका जाना कठिन है; अत पूर्वोक्त प्रमाण से अधिक ध्यान का काल नही हो सकता । यद्यपि ध्यान का काल थोडा है तो भी वह उतने ही काल मे चिरकाल सचित बहुत भारी पापो को उस तरह भस्म कर देता है जिस तरह वज्र से उत्पन्न हुई अग्नि अपने देदीप्यमान स्थिर स्वभाव से बडे बडे पर्वतो को भस्म कर देती है ।'

विशेषार्थ—दो घडी अर्थात् ४८ मिनट का एक मुहूर्त होता है । एक आवली के ऊपर एक समय से लेकर एक समय कम दो घडी तक का काल अन्तर्मुहूर्त कहलाता है । इसके असख्यात भेद होते है । अपने अपने शारीरिक सहनन तथा अभ्यास के अनुसार मनुष्य का चित्त एक पदार्थ मे अन्तर्मुहूर्त तक ही रुक सकता है, अत ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त ही है । जघन्य काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाच लघु अक्षरो के उच्चारण काल के बराबर है जो कि चौदहवे गुणस्थान मे होने वाले 'व्युपरत-क्रिया-निवर्ती' नामक शुक्लध्यान मे सभव है । यह जघन्य काल भी अन्तर्मुहूर्त के भीतर गर्भित है ।

ध्यान का बहुत थोडा समय है इसलिये यह नही समझना चाहिये कि इतने समय मे क्या होगा ? यह ध्यान अल्प समय-वर्ती होकर भी इतना अधिक शक्तिशाली होता है कि कोटी कोटी जन्म मे सचित किये हुए पापो को एक साथ नष्ट कर

देता है। वर्षा ऋतु मे वज्र के गिरने से जो अग्नि उत्पन्न होती है उसका परिणाम यद्यपि अत्यन्त अल्प रहता है तो भी बडे बड़े पर्वतो को ध्वस्त कर देती है। ध्यान की ऐसी ही कोई अद्भुत महिमा है ॥ १७ ॥

परमात्मोपदिष्ट दृष्टेष्टप्रमाणाविरुद्ध परमागमे त्रिविकल्प जननेनारोपितानेकविकल्पनवयोनिविकल्पानां पुण्यापुण्यनामकर्म्मं निःपादितानि बन्धफलानुभवनाश्रयाणि पञ्चशरीराणि षट् संस्थानानि षट् संहनानि चतस्रो गतयः सुमनस्कामनस्करूपाः प्राणिनः। तथार्त्तरौद्रादि चतुर्ध्यांनान्यभिहितानि वर्तन्ते। तत्र सर्व शरीर संहनन संस्थानगतिषु सकलप्राणिनां विश्वान्यपिध्यानानि सन्ति उत कस्मिश्चिच्छरीरे क्वचिदेवसंहनन सस्थाने वा कस्याचिदेव गतौकस्यचिदेव समनस्कप्राणिनः किञ्चिदेव ध्यानं भवतीति पूर्वपक्ष विवक्षादक्षेण दीक्षितेन बम्भणिता इव भदन्ता, विष्वक्सस्थानेत्यादि बंभणति—

विष्वक् संस्थानदेहे गतिषु चतसृषु प्राणिनि स्तः सहृत्के
सर्वस्मिन्नार्त्तरौद्रे विकलकरणके तत्र योगोपयोगः।
उत्कृष्टं धर्ममुक्तं यतिषु सुरपशुश्वभ्रिषण्ढावलानां
मर्त्येष्वन्येषु तद्वै दृशि निखिलविदश्चाप्यनुत्कृष्ट माहुः ॥१८॥

स्तः भवतः। के ? आर्त्तरौद्रध्याने। कस्मिन् ? प्राणिनि दशभिः प्राणैः श्वसिति स तस्मिन्। किंभूते ? सहृत्के समनस्के। मुहुः किंभूते ? सर्व्वस्मिन् श्वाभ्रतिर्यगमरमानवपर्यायभाजि। भूयः किभूते ? विष्वक्संस्थानदेहे विष्वक् समस्तानि च तानि संस्थानानि आकाराणि (आकाराः) च तस्मिन् संस्थानानि षट् प्रकाराणि समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डल बल्मीककुब्जवामनहुण्डसंस्थानमिति। औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि पञ्चशरीराणि विशिष्टनामकर्मोदयापादित वृत्तीनि

शीर्यन्त इति। उदारं स्थूलं तस्मिन् भवं तत्प्रयोजनमस्येति वा औदारिकम्। अष्टगुणाधिपत्यसम्बन्धादनेकाणु महच्छरीर विविधकरणं विक्रिया सा प्रयोजनमस्य वैक्रियकम्। सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसयमपरिहरणार्थं प्रमत्तसंयतेनाह्रियते निर्वत्यते तदाहारकम्। यत्तेजोनिमित्तं तेजसि भवं वा (तत्) तैजसम्। कर्मणा वा कार्यं कार्मणम्। कासु ? गतिषु। कति संख्योपेतासु ? चतसृषु नरकतिर्यङ्मानुषदेवगतिभेदाः। भूयः भवति। को ? योगोपयोगः योगः कामेन्द्रियसम्बन्धः तस्योपयोगोऽनुभवः। कस्मिन् ? तत्र तत्र क्वचिद् विकलकरणके विकल हीन करणमिन्द्रियं तद्विद्यते यस्य तस्मिन् द्वीन्द्रियादिचतुरिन्द्रियपर्यन्ते कृमिकीटचञ्चरीक इत्यर्थः। वीर्यान्तराय स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्व्वघातिस्पर्द्धकोदये च शरीरनामलाभावष्टम्भेन द्वीन्द्रियादि जातिनामोदयवशर्वातितायां च स्पर्शनरसनाद्यैकैकेन्द्रियमाविर्भवतीति। उक्तं कथितम्। किम् ? धर्म्यम्। किंभूतम् ? उत्कृष्टमुत्तमम्। केषु ? यतिषु व्रतिषु। आहु' प्रतिपादयन्ति। के ? निखिलविद' सकलज्ञानिनः। किम् ? तद्धर्म्यम्। किंभूतम् ? अनुत्कृष्ट जघन्यम्। कासाम् ? सुरपशुश्वभ्रिषण्ढाबलानाम् सुरादेवाः, पशुतिर्यक्, श्वभ्री नारकः, षण्ढो नपुंसकः, अबला स्त्री, तासाम्। न केवलमेतासाम् मर्त्येषु मानुषेषु किंभूतेषु ? अन्येषु व्रतरहितेषु। कस्यां सत्या ? दृशि दर्शने सति। सकलकायसस्थानस्थास्नो' चतुर्गति विवर्त्तवर्त्तिन. पचेन्द्रियसज्ञिनो जीवस्याशुभध्यानद्वैतं भवति। विकलाक्षेषु शङ्खशुक्तिकुन्थुमन्दविसर्पिणी खद्योतपतङ्गप्रभृतिषु स्वावरणक्षयोपशममिव धनं (ध्यान) ज्ञानानुभवनमेव। उत्तम तु धर्म्यध्यान व्रतव्रातरत्नरत्नालंकृता पद्यमानाना व्रतिनामेव। अपकृष्ट पुनः। शुभध्यानं पण्डकपशुसर्वनरनारकेषु सति सम्यक्त्वे सम्भवतीति संभालितार्थवृत्तसमूहार्थः ॥१८॥

आगे ऊपर कहे हुए चार ध्यानो मे से कौन ध्यान किस जीव के होता है यह बताते है—

आर्त्त और रौद्र ध्यान, चारो गतियों मे छहों संस्थानो को धारण करने वाले सभी संज्ञी जीवों के होते है, योग का उपयोग विकलत्रय जीवों के होता है, उत्कृष्ट धर्म्यध्यान मुनियो के होता है और जघन्य धर्म्यध्यान सम्यग्दर्शन के रहते हुए देव, पशु, नारकी, नपुसक, स्त्रियो तथा अन्य मनुष्यो के भी होता है ऐसा समस्त त्तत्वो के जानने वाले सर्वज्ञ देव ने कहा है ।'

विशेषार्थ—यह ससार नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देव इन चार गतियो से व्याप्त है । इनमे कोई जोव समचतुरस्रसस्थान वाला है, कोई न्यग्रोध परिमण्डलसस्थान का धारक है, कोई स्वातिसस्थान से युक्त है, और (कोई) कुब्जक सस्थान वाला है, कोई वामन सस्थान से युक्त है और कोई हुण्डक सस्थान का धारक है । कोई औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर का धारक है, कोई वैक्रियिक तैजस और कार्मण शरोर से युक्त है, कोई औदारिक आहारक तैजस और कार्मण शरीर से सहित है तथा कोई मात्र तैजस और कार्मण शरीर से युक्त है । कोई एकेन्द्रिय है, कोई द्वीन्द्रिय है, कोई त्रीन्द्रिय है, कोई चतुरिन्द्रिय है कोई असज्ञी पञ्चेन्द्रिय है और कोई सज्ञी पञ्चेन्द्रिय है । आर्त और रौद्रध्यान अशुभ ध्यान है, अत॰ वे चारो गतियो मे सभव है परन्तु सज्ञी पञ्चेन्द्रिय के ही होते है असज्ञी के नही होते है । द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय विकलत्रय कहलाते है । इनके ध्यान सभव नही है, क्योकि ध्यान का लक्षण चित्त की स्थिरता है और इनके चित्त होता ही नही है तब उसकी स्थिरता रूप ध्यान किस प्रकार हो सकता है ! इनके सिर्फ योग का उपयोग होता

है। काय और इन्द्रिय के सबध को योग कहते है। वीर्यान्तराय, स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षुरिन्द्रिय मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम कर्णेन्द्रिय मतिज्ञानावरण के सर्वघाति स्पर्द्धको का उदय तथा शरीर और जाति नामकर्म का उदय होने पर इस जीव के स्पर्शन रसना आदि इन्द्रिया प्रकट होती है। धर्म्य-ध्यान उत्कृष्ट रूप से मुनियो के होता है और जघन्य रूप से चतुर्गति-सम्बन्धी सम्यग्दृष्टि जीवो के होता है ऐसा सर्वज्ञ-जिनेन्द्रदेवने निरूपण किया है ॥१८॥

शुद्धाशुद्धाभिसन्धिप्रबन्धावधारणं बोधात्मनि बोधाधीश्वरधीरपि विधातुमक्षमेति। यस्योदये शरीरस्य निविडास्थिबन्धो भवति तत् सहनन नाम षड्विधम्। तथाहि वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराचार्द्धनाराचकीलिकासप्राप्तासृपाटिका संहनानि। कर्मबन्धनिबन्धनं तद्विध्वंसनकारणं चतुर्विधं शुक्तध्यानञ्च बन्धमहाबन्ध सिद्धान्तेऽभिहित। एवञ्च सति कि शुक्लध्यान कस्मिन् सहनने संपद्यते कियन्ती कस्यात्मनः परिणामसन्ततिरिति परेण प्ररूपिता इव परमार्थवर्या. आद्यमित्यादि निरूपयन्ति—

आद्यं शुक्लं त्रिसंहत्युचिततनुविधावाद्य संहत्युपेते
विज्ञेयं तत्त्रयं स्यादितरदपि नरे क्वापि कालाद्यपेक्षम्।
कोऽधीशो मातुमेतां परिणतिमितरां कर्त्तुमानन्त्यक्लृप्ते-
स्तत्तद्बाह्यान्तरङ्गाश्रयविषयवशावेशभूयोऽवताराम् ॥१९॥

स्यात् भवेत्। किम्? शुक्लं शुक्लध्याम्। किंभूतम्? आद्यम् प्रथमम् पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्यम्। कस्मिन् त्रिसंहत्युचिततनुविधौ त्रिसंहतिः त्रिसंहनानि तैरुचितो योग्य स्तनुविधिरङ्गविधिर्यस्य तस्मिन् वज्रर्षभनाराच वज्रनाराच नाराचैः कृतकाये। विज्ञेयं ज्ञातव्यम्। किम्? तत्त्रयम् तेषां त्रयम् शुक्लध्यानत्रयम्। क्व? नरे मर्त्ये। किंभूते? आद्य

संहत्युपेते पविऋषभ नाराचसहननयुक्ते। किम्? इतरदपि। अन्यदपि अग्रिमम्। कस्मिन्? नरे। किभूते? क्वापि कस्मिश्चिदपि कीलिकादि सहननवति। किभूतम्? कालाद्यपेक्षं। कालश्चतुर्थसमयः स आदिर्येषां द्रव्यक्षेत्रभावादीनां ते। तेषामपेक्षा यस्य तत्। पूर्व्वविदेहोत्पन्नविशुद्ध-लेश्याकीलितोपकल्पितकायस्यापि प्रथम संख्य शुद्धध्यानं भवतीत्यर्थः। कोऽधीशः कः प्रभु न कोऽपि। कि कर्तुम्? मातुं परिच्छेतुम्। काम्? परिणतिम् विचित्रचित्तचेष्टाम्। किभूताम्? इतराम् अन्याम् पृथक् पृथग्भूतामन्याम्। कि भूताम्? तत्तद्बाह्यान्तरङ्गाश्रय विषयवशावेश-भूयोऽवतारं तत्तत् प्रसिद्धंप्रसिद्धं तच्च तद् बहिर्भव बाह्यं च। किम्? क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यरूपम्। आन्तरंगं चान्तर्भवं मिथ्यात्ववेदरागाहास्यादिकाश्च षड् दोषाः। चत्वारो हि कषायाश्चतु-र्दशाभ्यन्तरग्रन्थाः। ते आश्रयः स्थान स चासौ विषयश्च तस्य वश आयत्तता तस्यावेशः प्रवेशस्तस्मात्। भूयः पुनः पुनरवतारोऽवतरण प्रादु-र्भूतिर्यस्याः सा ताम्। कस्याः सकाशात्? आनन्त्यक्लृप्तेः अनन्तपरि-कल्पनादित्यर्थः। त्रिसंहनोपहितसहननो मनुजोऽपश्चिमं शुद्धध्यानमाधत्ते। उत्तरं तु शुभ्रध्यानकदम्बकमग्रिमोत्तमसंहतिस्तनुमान्। कीलिकाकलित-कलेवरोऽपि चतुर्थकालपूर्वापरविदेहोत्पन्नसितलेश्योऽग्रतः सितध्यानमपि। अन्तरङ्गानन्तरङ्गरागः अङ्गाद्यभिषङ्गविषयायत्ततानुप्रवेशान्मुहुर्मुहुः पृथक् पृथगुत्पद्यमानां परिणाम प्रक्लृप्ति प्रमातुं न कोऽपि प्रभुरिति प्ररूपितार्थ-वृत्तसमुदायार्थः ॥१६॥

आगे शुक्लध्यान के स्वामी का निरूपण करते है।

"पृथक्त्ववितर्क नाम का पहला शुक्लध्यान आदि के तीन संहननों के धारक मनुष्य के होता है। एकत्व वितर्क सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती नाम के तीन शुक्ल ध्यान प्रथम सहनन के धारक मनुष्य के ही होते है। प्रथम शुक्ल-

ध्यान कालादि की अपेक्षा कीलित सहनन के धारक मनुष्य के भी होता है। वास्तव मे यह चित्तकी परिणति अनन्त प्रकार की है। बाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रह रूप आश्रय के वश यह पुन पुनः प्रादुर्भूत होती रहती है इसे अपने अनन्त-विधपरिणमन से पृथक् कर, जानने के लिए कौन समर्थ है।'

विशेषार्थ—सोलहवे श्लोक के विशेषार्थ मे शुक्लध्यान के चार भेदो का वर्णन कर चुके है। उनमे से पहला पृथकत्व-वितर्कविचार नामका शुक्लध्यान वज्रर्षभनाराच सहनन वज्र-नाराच सहनन और नाराच सहनन इन तीन सहननो मे से किसी एक सहनन के धारक जीव के होता है। यह ध्यान आठवे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक होता है। आठवे से दशवे गुणस्थान तक उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी इन दोनो श्रेणियो के धारक मनुष्य होते है। इन गुणस्थानों मे जो क्षपकश्रेणी वाला मनुष्य होगा उसके नियम से वज्रर्षभ नाराचसहनन होगा और जो उपशमश्रेणी वाला मनुष्य होगा उसके प्रथम तीन सहननो मे से कोई भी एक सहनन हो सकता है। ऐसे मनुष्यो को ही लक्ष्य कर इस श्लोक मे पहला शुक्लध्यान प्रथम तीन सहनन वाले जीवो के बतलाया है। एकत्व वितर्क आदि तीन शुक्लध्यान द्वादशादि गुणस्थानो मे होते है। उन गुणस्थानों मे रहने वाले मनुष्य नियम से तद्भव मोक्ष गामी होते है और तद्भव मोक्ष गामी मनुष्यो के नियम से वज्रर्षभनाराच संहनन होता है अत. अवशिष्ट तीन शुक्ल-ध्यान प्रथम सहनन के धारक मनुष्य के ही बतलाये है। इस

प्रकार ग्रन्थ कर्त्ता ने इस श्लोक मे शुक्लध्यान के चार भेदो का जो स्वामित्व वर्णन किया है वह अन्य ग्रन्थो मे भी मिलता है परन्तु प्रथम शुक्लध्यान के स्वामित्व के विषय मे कुछ विशिष्टता भी बतलाई है जो अभी तक अन्य ग्रन्थो मे नही देखी गई। वह विशिष्टता इस प्रकार है—पृथकत्ववितर्क वीचार नामका पहला शुक्लध्यान चतुर्थ कालादि की अपेक्षा अन्य जीवो के भी हो सकता है। इस विशिष्टता का स्पष्टीकरण सस्कृत टीकाकार ने इस प्रकार किया है कि पूर्वापर विदेह मे उत्पन्न विशुद्धलेश्या के धारक कीलितसहनन वाले मनुष्य के भी कदाचित् प्रथम शुक्लध्यान सभव हो सकता है। क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दासादि दश बाह्य परिग्रह है और मिथ्यात्व, क्रोधादि चार कषाय तथा हास्यादि ९ नो कषाय ये १४ आभ्यन्तर परिग्रह है। इनका आश्रय पा कर चित्त की परिणति क्षण क्षण मे परिवर्तित होती है। इस प्रकार चित्रवृत्ति का यह परिणमन अनन्त प्रकार का हो जाता है, चित्तवृत्ति का यह अनन्तविध परिणमन प्रत्येक संसारी प्राणियो के होता रहता है। जिन प्रत्यासन्ननिष्ठ—निकट ससारी प्राणियो का उक्त परिग्रह कम हो गया है या छूट गया है वे ही अपनी चित्तवृति को अनन्तविध परिणमन से पृथक् करने के लिए समर्थ हो सकते है परन्तु ऐसे प्राणियो की विरलता है इसलिए ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है कि ऐसी चित्तवृत्ति को समझने के लिए कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नही ॥१९॥

'एकं' चेतो (चिन्ता) निरोधादित्यत्रार्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लभेदेन चतुर्धा ध्यानमधीत तत्र प्रथममाध्यानं चतुर्विधमभिदधाना विचित्रास्तोकस्तोत्रस्तुतेः क्षितितलन्यस्तमस्तकभव्यात्मनां निरस्तेष्टानिष्टवस्त्वाश. एवं(एव) योगी स्तुत्योऽस्तीत्यभिदधति सूरयो नाशास्त इत्यादिना—

नाशास्तेऽप्राप्तमिष्टं सदपि न मनुते नैव शोचत्यतीतं
न द्वेषोऽनिष्टसंगे न च कलुषमति [1]र्नाप्यभावाभिलाषी ।
मायासूयाङ्गशोभामद-मदनकथालोकयात्रातिगश्च
प्रोन्मुञ्चेदार्त्तमेतत्पशुगतिफलदं यः स्तवायास्तु वः सः ॥२०॥

अस्तु भवतु । कः ? स योगी । किमर्थम् ? स्तवाय कीर्तनाय । केषाम् ? वः युष्माकं भव्यात्मनाम् । यः किंविशिष्टः ? प्रोन्मुंचेत् त्यजेत् । किम् ? एतत् । एतत् किम् ? आर्त्तम् आर्त्तध्यानम् आर्त्तं दुखं तत्र भवम् । अथवार्द्दनम् अर्त्तिः पीडा तस्यां भवं वा । तत् किरूपम् ? पशुगतिफलदं पशूना गति. सैव फलं तद्ददाति तिर्यग्गतिफलप्रदम् । भूयः किंभूतो ? यो नाशास्ते न वाञ्छति । किम् ? इष्टं मनोज्ञम् । किंभूतम् ? अप्राप्तमलब्धम् । पुनः किम्भूतो ? यो न मनुते नाभ्युपगच्छति । किम् ? सद् विद्यमानं पिच्छकमण्डलुप्रभृतिकम् । मुहुः किरूपो ? यो नैव शोचति न शोकं करोति । किम् ? अतीत गतं नष्टम् । कथम् ? ममेदं वस्तु सुखसाधनमासीदिति मनागपीष्टं न चिन्तयतीत्यर्थः । पुनरपि किंभूतः ? न द्वेषो न द्वेष्टि न रोषकारी । क्व ? अनिष्टसंगे अनिष्टममनोज्ञं शत्रुशस्त्रसंपातादिकं तस्य सङ्गः सम्बन्धस्तस्मिन् । पुनः कीदृशो ? यो न च कलुषमतिः न च नैव भवति कलुषमतिः कश्मलज्ञानः पराभिद्रोहवञ्चनाभिभवदुःखोत्पादनपरिणामो नेत्यर्थः । मुहुः कीदृक्षो ? यो नाप्यभावाभिलाषी नैवाभावमविद्यमानमभिलषति वाञ्छति असदर्थाभिलाषुको न । भूयः कीदृक् ? मायासूयाङ्गशोभामदमदनकथालोकयात्रातिगश्च परवञ्चनात्मिका

१ वाप्यभवाभिलाषी त० २. किमर्थं ख० ।

र्भम्मिर्माया, परगुणासहिष्णुतया वचनेन परदोषोद्भावनमसूया, अंगं शरीरं तस्य शोभा संस्कारः, मदा अष्टौ, ज्ञानकुलैश्वर्यजातिसपर्यातपोवपुरूपाणि मदाः। मदनो मारः तस्य कामोद्रेककारिवचनप्रबन्धकथनम्। लोको नरनारीरूपस्तस्य यात्रा जनाना समूहः, एतेषां द्वन्द्वेनातिगच्छति क्रामति। यः एतान् परिहृत्य स्वरूपे वर्त्तत इत्यर्थः। अप्रियाहिविषकण्टकारात्यायुधवाधावैधुर्यः तत्कथं मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः प्रथममार्त्तध्यानं तथा मनोज्ञप्रसङ्गः स्रगङ्गनागोशीर्षगाङ्गेयादि मम भूयादिति स्मृत्यभ्यावृत्तिर्द्वितीयार्त्तानुध्यानम्। वातपित्तपीनसोत्पन्नाक्षिकुक्षिक्षुधादिजनिततीव्रवेदनाभ्रंशो मम कदा भविष्यतीति मुहुर्मुहुराध्यानं तृतीयार्त्तध्यानं, भोगाकांक्षातुरस्यानागतविषयप्राप्ति प्रति मनः प्रणिधान संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धस्तुरीयार्त्तध्यानम्। एतद्दुर्ध्यान विधूय वञ्चनान्यदोषोद्भावनशरीरालङ्कारस्मयस्मराख्यानजनयात्रादिव्यवहाररहितो योगीश्वरः सद्भिध्यस्तवनगिरागोचर इति निर्णीतार्थवृत्ततात्पर्यार्थः ॥२०॥

आगे जो इष्ट और अनिष्ट वस्तुओ की आशा छोड कर आर्तध्यान का त्याग करता है वह योगी ही स्तुति करने के योग्य है, यह बतलाते है—

'जो अप्राप्त इष्ट पदार्थ की इच्छा नही करता, जो विद्यमान कमण्डलु तथा मयूरपिच्छ आदि मे ममता नही करता, जो नष्ट हुए पदार्थ का शोक नही करता, जो अनिष्ट पदार्थ के समागम मे द्वेष नहीं करता, कलुषित बुद्धि नही होता और न उसके अभाव की इच्छा ही करता है, जो माया असूया शरीर की सजावट, अहंकार तथा काम-वर्द्धक कथा और लोकयात्रा से परे है—रहित है। इस प्रकार तिर्यञ्चगतिरूप फल को देने वाले आर्तध्यान का त्याग करता है वह योगी ही तुम सब का स्तुत्य है—तुम सबके द्वारा स्तुति करने के योग्य है।'

विशेषार्थ—आर्तध्यान के अनेक प्रकार है—कभी यह प्राणी, जो पदार्थ अपने लिये प्राप्त नही है उन्हे प्राप्त करने के लिये लालायित रहता है, कभी पास मे रखे हुए उत्तम कमण्डलु, पिछी आदि के विषय मे ऐसा विचार करता है कि ये सदा ही मेरे पास रहे आवे। कभी इष्ट शिष्य आदि का वियोग होने पर दुखी होने लगता है। कभी अनिष्ट पदार्थों का समागम होने पर द्वेष करने लगता है, निरन्तर अपने परिणाम कलुषित रखता है, और उसका समागम दूर होने की अभिलाषा रखता है। अन्य पुरुष को धोखा देने की परिणति को माया कहते है। दूसरे के गुण सहन न कर सकने के कारण वचनो द्वारा उसके दोषो को प्रकट करना असूया कहलाती है। शरीर को तेल आदि के मर्दन् से चमकीला आदि रखने की भावना को शरीर-शोभा कहते है। अपने आपको बडा और दूसरे को छोटा समझने की भावना रखना मद है। यह ज्ञान, कुल, ऐश्वर्य, जाति, पूजा तपश्चरण, शरीर और सौन्दर्य के भेद से आठ प्रकार का होता है। काम को उत्तेजित करने वाली कथा को मदनकथा कहते है। नर और नारी के समूह को लोक कहते है। इनके साथ राग पूर्वक उठना-वैठना चलना-फिरना वार्तालाप आदि करना लोक-यात्रा कहलाती है। इन माया, असूया आदिरूप परिणामो से निरन्तर आर्तध्यान पुष्ट होता रहता है। आर्तध्यान का फल तिर्यञ्च गति मे जन्म लेना है, इसलिये जो ऊपर कहे हुए आर्त-ध्यान के समस्त प्रकारो से दूर हो चुका है वह योगी ही वास्त-विक योगी है और वही तुम सवकी स्तुति का पात्र है ॥२०॥

इदानीं द्वितीयाशुभध्यानं किंभेदं, किंस्वभावं, कुतोभवति, किंफलप्रदं, किंसंज्ञमिति विदितवेद्येन वावदूकेन प्रतिपाद्येनावेदिता इव विमुक्तार्त्तरौद्र-एवानूचानः सद्भूव्यात्मनां प्रीतिनिमित्तं भवतीति वदन्तो विदाम्बरा दिगम्बराचार्यवर्या येषामित्यादि जगुः—

येषां हिंसा न सत्त्वे क्वचिदपि वचसां येषु नाऽसत्यभावो
येषां चित्तं न वित्ते परवति निजके येषु रक्षा न चाङ्गे ।
ध्यानाद्ये रौद्रसंज्ञादुपरतमतयः श्वभ्रवेशाविदूरा-
द्रोषद्वेषप्रमोषाग्रहविधिविधुराः प्रीतये सन्तु ते वः ।।२१।।

सन्तु भवन्तु । के ? ते मुनिनायका. । कस्यै ? प्रीतये हर्षोत्कर्षाय । केषाम् ? वो युष्माकम् रत्नत्रयालंकृतोत्तमभव्यसत्त्वानाम् । येषा किम् ? न भवति । का ? हिंसा हिंसनं । क्व ? सत्त्वे प्राणिनि । पुनः किम् ? येषु न । कः ? असत्यभावः असत्यत्वं मिथ्याप्रलपितमित्यर्थः । कथं ? क्वचिदपि कस्मिंश्चिदपि । केषा ? वचसा वचनानाम् । भूयः किम् ? येषां न चित्तं न चेतः । कस्मिन् ? वित्ते द्रव्ये । किंभूते ? परवति अनात्मीये । मुहुः किम् ? येषु न । का ? रक्षा रक्षणं प्रतिपालनमिति यावत् । क्व ? अंगे वपुष्यपि । किंभूते ? निजके स्वकीये । किंविशिष्टाः ? उपरतमतयः उपरता निवृत्ता मतिर्बुद्धिर्येषां ते व्यावृत्तचित्ताः । कस्मात् ? ध्यानाद् वारं-वारमनुस्मरणात् । किमाख्यात् ? रौद्रसंज्ञात् रुद्रः क्रूराशयस्तस्य भावः कर्म वा तत्र भवं वा रौद्रं, सज्ञाभिधानं तद् विद्यते यस्य तत् तस्मात् । कथ-मेनमपकारकारिणं कालत्रा कृतकार्यं करिष्यामि सर्वस्वापहारिण कार-यिष्यामि, बन्धयिष्यामीति परिणामप्रवाहपरादित्यर्थः । किंभूतात् ? श्वभ्रवेशाविदूरात् श्वभ्रं रत्नप्रभादिषु सीमन्ताद्युत्पत्तिस्थानं तत्र वेशः प्रवेशः तस्याविदूरं निकटं तस्मात् नरकविवरनारकप्ररोहबीजादित्यर्थः । भूयः किंभूताः ? रोषद्वेषप्रमोषाग्रहविधिविधुराः रोषो हिंसनं द्वेषोऽप्रीतिः प्रमोषश्चोरणम्, एतेषां द्वन्द्वस्तेष्वाग्रहोऽत्यासक्तिस्तस्य विधिर्विधीयत इति

विधिः कार्यकर्तव्यतेत्यर्थः। तेन विधुरा रहितास्ते शंसनाक्रोशनस्तेनासन्न-कार्यहीना इत्यर्थः। हिंसासत्यस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो भवद्रौद्राह्वं ध्यानं चतुर्धाप्यविरतदेशविरतस्वामिकं नरकोद्भवविवरप्रवेशकं मनस्यकुर्वाणाः स्वशरीरशरारूणामप्यशरारवोऽसारसंसारसागरोत्तरणसेतुबन्धसद्ध्याना-धीनधिषणध्यानिनः सद्भव्यभविना प्रणयाय भवन्त्वितिबम्भणितवृत्त-संहत्यर्थः ॥२१॥

आगे रौद्रध्यान के प्रकार बतलाते हुए उससे विरत रहने वाले योगीश्वर तुम सबकी प्रसन्नता के लिये हो, यह बतलाते है—

'जिनके किसी भी प्राणी पर हिसा रूप परिणाम नही है, जिनके वचनो मे कभी भी असत्यता नही आती, जिनका चित्त परकीय धन मे कभी भी नही जाता, अपने शरीर मे भी जिनकी रक्षा करने की बुद्धि नही होती, जो नरक प्रवेश के निकटवर्ती अर्थात् शीघ्रता के साथ नरक मे प्रवेश कराने वाले रौद्रध्यान से सदा दूर रहते है, और रोष, द्वेष तथा चोरी आदि रूप परिणामो से रहित है, वे योगीश्वर तुम सबकी प्रीति के लिये हो—तुम्हारे आत्मानन्द को बढाने वाले हो।

विशेषार्थ—रौद्र ध्यान भी अनेक प्रकार का है। उसके वशीभूत हुआ प्राणी कभी जीवहिसा करता है, कभी असत्य वचन बोलता है, कभी पर-धन हरण की आकाक्षा करता है। कभी अपने शरीर की रक्षा करने मे व्यग्र रहता है, कभी इच्छानुकूल परिणमन न होने से पर-पदार्थ मे रोष करने लगता है, कभी स्वकीय इच्छा का विघात करने वाले पदार्थ मे द्वेष करने लगता है, और कभी कषाय की उत्कटता से प्रेरित हुआ पर-

कीय धन तथा स्त्री आदि के अपहरण मे तत्पर रहता है। जीव के उक्त परिणाम रौद्रध्यान के परिणाम है। इन परिणामो से इसका नरक गति मे प्रवेश निकट हो जाता है। अतः जो मुनिराज रौद्रध्यान के उक्त सभी प्रकारो से विरत हो चुके है वे ही तुम सबकी प्रसन्नता के बढ़ाने वाले हों। जो पुरुष सदोष रहता है उसकी आत्मा स्वय अशान्त रहती है और जो स्वयं अशान्त रहता है वह दूसरे को शान्त नही कर सकता। श्री शान्तिनाथ भगवान् का स्तवन करते समय श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने दूसरे को शान्त बनाने का जो क्रम प्रदर्शित किया है वह बहुत ही सुन्दर है—

स्वदोषशान्त्यावहितात्मशान्ति
शान्तेर्विधाता शरण गतानाम्।
भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्य [1] ॥

अर्थात् स्वकीय दोषो के शान्त हो जाने से जिन्हे आत्म-शान्ति प्राप्त हुई है और जो शरणागत जीवो को शान्ति प्रदान करने वाले है वे श्री शान्तिनाथ भगवान मेरे सासारिक क्लेशो से उत्पन्न होने वाले भयो की शान्ति करने वाले हों।

इस श्लोक मे भी आचार्यवर्यने यही भाव दिखाया है कि रौद्रध्यान का अभाव होने से जिनकी आत्मा स्वय शान्त हो चुकी है—प्रीति से युक्त हो चुकी है वे तुम सबकी शान्ति के लिये हो—तुम्हारी प्रसन्नता बढाने वाले हो ॥२१॥

---

१. स्वयंभूस्तोत्रे शान्तिनाथस्तुति ।

वैरविरोधोद्धुरसिंधुरोद्धवविध्वंससिन्धुरारिसमाधिविधुदीधितिप्रबन्ध-प्रधावोद्धूतध्वान्तवैध्र्यध्यानसौध[1]बन्धाधीश्वरोत्तमक्षमादिदशधर्माभिधान-धुरीणधिषणप्रधानाराध्याः सद्ध्यानेद्धधनंजयेन कर्मैधांसि दिधक्षुणा धर्म्यध्यानं विधित्सुनाराधनाविधानैराराधिताः कीदृशं धर्म्यध्यानस्वरूप-मिति साधकेन ध्वनिता इव धीधनाधीतसकलसमयार्थाः सूरयो याथात्म्य-मित्याद्यभिदधुः—

याथात्म्यं धर्म्यमाहुस्तदिह बहुधियो वस्तुजातेश्च सर्वं
हर्षामर्षाभिषङ्गप्रविकलमनसां स्थात्सदालम्बमेषाम् ।
तद्ध्यानाधीनधीनाः प्रतिगमविगमान्मोहमूलं लुनन्ति
तस्मिन्पञ्चावबोधीपरिकलितकले क्वापि तत्त्वे कृतास्थाः ।।२२।।

आहुः ब्रुवन्ति । किम् ? धर्म्यम्, धर्मादनपेतम् । किं तत् ? याथात्म्यं यथात्मनो भावः । वस्तुसंजातेः (वस्तुजाते.) वस्तु सामान्यविषयात्मकं (सामान्यविशेषात्मकम्) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सज्जीवाजीवादिसामान्य-मात्रं विशेषनिरपेक्ष सत्तद्ग्राहकप्रमाणाभावान्नापि विशेषमात्र तन्निरपेक्षं तत एव । तदुक्तम्—

विशेषरहितं किञ्चित्सामान्यं नावभासते ।
सामान्यहीनतायां हि विशेषस्तद्वदेव वै ।।
नोत्पत्तिमात्रकं तत्त्व नाव्ययं व्ययमेव वा ।
स्यात्तादात्म्यमतादात्म्यं भेदाभेदोपवर्णनात् ।
न पर्यायैः पृथग्द्रव्यं न पर्याया विनान्वयैः ।
द्वाभ्यामभिन्नभूतं च भावं भावविदो विदुः ।।

तस्य जातिः सामान्यं द्विविधं तिर्यगूर्ध्वताभेदात् । चेतनस्याचेतनस्य द्रव्यस्य स्वसामान्यमपरित्यजतो निमित्तवशाद्भावान्तरावाप्तिकोत्पादन मुत्पादो मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत् । तथा पूर्वभावविगमन व्ययो यथा

---

१ सौवन्धाधीश्वरोत्तम् ख० ।

घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डाकृतेः। अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावाद्ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवस्तस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यं यथा पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यवयवा., ते, तैर्युक्तं सदिति नैष दोषोऽभेदेऽपि कथञ्चित्संज्ञासंख्यादिरूपभेदनयापेक्षया युक्त शब्दो दृष्टो। यथारूपयुक्तो घट इति तथा सति तेषामविनाभावात्स व्यपदेशो युक्तः। समाधिवचनो वा युक्तशब्दः। युक्तः समाहितस्तदात्मक इत्यर्थः। उत्पादव्ययुक्तं सद् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमिति यावत्। एतदुक्तं भवति, उत्पादादीनि द्रव्यस्य लक्षणानि। द्रव्यं लक्ष्यं तत्र पर्यायार्थिकनयापेक्षया परस्परतो द्रव्याच्चार्थान्तरभावो, द्रव्यार्थिकनयापेक्षया व्यतिरेकानुपलब्धिरनर्थान्तरभाव इति लक्ष्यलक्षणभावसिद्धिरविरुद्धा धीमद्भिरवबोद्धव्येति सिद्धा वस्तुजातिस्तस्य। के? बहुधियः प्रचुरबुद्धयः। स्याद् भवेत्। किम्? आलम्बम् आश्रयणम्। किं तद्? याथात्म्यम्। पुनः किंभूतं? सर्वं स्वरूपं पररूपञ्चेति। क्व? इह समये। केषाम्? एषां [1]सबंधीधनानाम्(?)। किंभूतानाम्? हर्षामर्षाभिषङ्गप्रविकलमनसां हर्षं इष्टे वस्तुनि प्रेमोत्कर्षः, अमर्षो द्वेषः, कालुष्यं कल्मषं कलुषत्वमनयोर्द्वन्द्वस्तयोरभिषङ्गः सम्बन्धस्तेन विकलं शून्यं मनश्चित्त येषां तेषाम्। लुनन्ति छिन्दन्ति। किम्? मोहमूलम् 'अहं कुर्वेऽहं कुर्वे' इत्यहङ्कारो मोहः स च द्विविधो दर्शनमोहश्चारित्रमोहश्च। तत्र सम्यक्त्व मिथ्यात्वतदुभयभेदात्त्रिविधो दर्शनमोहः। स बन्धं प्रत्येकत्वं गत्वापि सत्कर्मापेक्षया त्रिधा व्यवतिष्ठते। तत्र यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीत मार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितपरिज्ञानासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मानं श्रद्दधानं न निरुणद्धि तद्वेदयमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टिरभिधीयते। तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात् क्षीणमदशक्तिकोद्रववत् सामिशुद्धस्वरसं तदुभयमित्याख्यायते सम्यग्मिथ्यात्वमिति यावत्। यस्योदयादात्मनोऽर्धशुद्धमत्तकोद्रवौदनोपयोगापादितमिश्रपरिणाम (इव) तदुभया-

---

१ सम्यग्धीधनानाम् इति पाठ शुद्धः प्रतिभाति।

त्मको भवति परिणामः। चारित्रमोहो द्विविधः अकषाय-कषायवेदनीय-भेदात्। ईषदर्थे नञः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति अकषायवेदनीयं नवविधं हास्यादिभेदात्। यस्योदयाद्धास्याविर्भावस्तद्धास्यम्। यदुदया-द्देशादिष्वनौत्सुक्यं सा रतिः। अरतिस्ताद्विपरीता। यद्विपाकाच्छोचनं स शोकः। यदुदयादुद्वेगस्तद् भयम्। तदुदयादात्मनो दोषसंवरणं सा जुगुप्सा। यदुदयात्स्त्रैणं भावं प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः। यस्योदयात्पौंस्नान् भावानास्कन्दति स पुंवेदः। यदुदयान्नपुंसकभावं प्रतिपद्यते स नपुंसक-वेदः। कषायवेदनीयं षोडशविधम्। कुतः? अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात्। तद्यथा, कषायाः क्रोधमानमायालोभाः। एषा चत्वारो भेदाः अनन्तानु-बन्धिनोऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणाः सञ्ज्वलनाश्चेति। अनन्तसंसार-कारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तं तदनुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः। यदुदया-द्देशविरतिसंयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्त्तुं न शक्नोति तदिदमप्रत्याख्यान-मावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्या न शक्नोति कर्त्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। समे एकीभावे वर्तन्ते सयमेन सहावस्थानादेकीभूताः ज्वलन्ति सयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभास्त एते समुदिताः षोडश कषाया भवन्तीति व्याख्यातः सविस्तरो द्विविधोऽपि मोहस्तस्य मूलं कारणं मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाय-योगरूपम्। तत्त्वार्थाश्रद्धानं मिथ्यात्वम्। मनोज्ञामनोज्ञविषयव्यावृत्ति-र्विरतिस्तद्विपरीताऽविरितिः। दयादमरत्नत्रयकुशलेष्वनादरो विकथाकषा-येन्द्रियनिद्राप्रणयाकुशलेष्वादरः प्रमादः। सत्यासत्योभयानुभयमनोवचन-कायस्वभावो योगः। के? तद्ध्यानाधीनधीनाः धर्म्यध्यानायत्तमनसः। पुनः किंभूताः? कृतास्थाः कृतव्यवस्थाः। क्व? तस्मिन् प्रसिद्धे। क्वापि तत्त्वे कस्मिंश्चिदपि चेतनाचेतनस्वभावजीवाजीवास्रवादौ। किंभूते? पञ्चावबोधीपरिकलितकले पञ्चानामवबोधानां समाहारः पञ्चावबोधी तया परिकलिता ज्ञाता कला पर्यायो यस्य तस्मिन्। के ते पञ्चावबोधाः? मति-

श्रुतावधिमन पर्ययकेवलावबोधाः तत्रावबोधशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। इन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थान्मन्यतेऽनया मनुते मननमात्रं वा मतिः। तदावरणक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते तच्छृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्। अवाग्मना (अवाग्धाना) दवच्छिन्नविषयत्वाद्वावधिः। परकीयमनोगतोऽर्थं मन इत्यभिधीयते साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिणमनं मनःपर्ययः। मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत्? न, अपेक्षामात्रत्वात्। क्षयोपशमशक्तिमात्रविजृम्भितं तत्केवलं स्वपरमनोभिर्व्यपदिश्यते। यथाभ्रे-चन्द्रमसं पश्येति। बाह्येनाभ्यन्तरेण च तपसा यदर्थमर्थिनः केवन्ते सेवन्ते तत्केवलमसहायमिति चेति पञ्चावबोधाः। कुत. ? प्रतिगमविगमात् चलाचलस्वभावविनाशात् स्थिरीभूतादित्यर्थः। आत्मानात्मादिसत्सामान्यं यथावदवबोधो धर्म्यमिति ध्वनन्ति ध्यानविनायकाः। ते च हर्षोत्कर्षाश्लिषकषः सकलालम्बनबोधजुषो विज्ञानपञ्चकज्ञातवस्तुपर्याये कृतव्यवस्थाः धर्म्मध्यानप्रबलबलालमूलोन्मूलितकर्म्मानोकहकक्षा भवन्तीति दंध्वनितवृत्ततात्पर्यार्थः ॥२२॥

आगे धर्म्म ध्मान का स्वरूप और उसका फल बतलाते है—

'सामान्य-विशेषात्मक वस्तु का जो स्वरूप है उसे प्रचुर ज्ञान के धारक महर्षि धर्म्म कहते है। यह धर्म्म ही—स्वकीय परकीय वस्तु का यथार्थ स्वरूप ही—हर्ष और विषाद के सम्बन्ध से रहित मन वाले सम्यग्ज्ञानी पुरुषो का समीचीन आलम्बन है—ध्यान का विषय है। जिनका चित्त धर्म्यध्यान के अधीन है और जो मतिज्ञानादि पञ्चविधज्ञान के द्वारा जिसका सूक्ष्म स्वरूप जाना जाता है ऐसे किसी भी स्वतत्त्व अथवा पर तत्त्व मे आस्था करने वाले है ऐसे महापुरुष बाधक कारणो का अभाव हो जाने से मोहनीय कर्म का मूलच्छेद करते है—उसका समूल विनाश करते है।'

विशेषार्थ—जिसमे परस्पर विरोधी अनेक गुण निवास करते है उसे वस्तु कहते है। यह वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। द्रव्य को सामान्य कहते है और पर्याय को विशेष कहते है। संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नही है जो द्रव्य और पर्याय—दोनो की अपेक्षा से रहित होकर स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व रखता हो। यह सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही सत् कहलाता है। यह सत् उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य रूप होता है। किसी द्रव्य की नूतन पर्याय के प्रकट होने को उत्पाद और पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते है। पूर्व और पर पर्याय मे जो अन्वय बना रहता है उसे ध्रौव्य कहते है। ध्रौव्य, सामान्य अथवा द्रव्य रूप है। तथा उत्पाद और व्यय विशेष अथवा पर्याय रूप है। इस प्रकार वस्तु का जो वास्तविक स्वरूप है वह धर्म्य कहलाता है। इस धर्म्य का ध्यान करना धर्म्यध्यान है। जव तक मोह की प्रचुरता रहती है तब तक इष्टानिष्ट पदार्थो के सपर्क से हर्ष विषाद उत्पन्न होता रहता है परन्तु जैसे-जैसे मोह की मन्दता होती जाती है वैसे-वैसे ही इष्टानिष्ट पदार्थो के सपर्क से हर्ष-विषाद कम होता जाता है और अन्त मे एकदम सम अवस्था—माध्यस्थभाव प्रकट हो जाता है। इस प्रकार मोह की मन्दता के कारण जिनके मन से हर्ष-विषाद दोनो ही नष्ट हो गये है ऐसे महापुरुषो के स्वतत्त्व अथवा परतत्त्व का वास्तबिक स्वरूप ही ध्यान का विषय रह जाता है। ऐसे जीव अपने उपयोग की स्थिरता के कारण किसी भी पदार्थ मे स्थिर चित्त हो जाते है और प्रति-

बन्धक कारणो का अभाव हो जाने से मोह के मूल स्वरूप मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व अथवा सम्यक्त्व प्रकृति का उच्छेद कर देते है अर्थात् सम्यग्दर्शन की बाधक मिथ्यात्वादि प्रकृतियो का अभाव कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन जाते है। धर्म्यध्यान चतुर्थ गुणस्थानो से लेकर सप्तम गुणस्थान तक होता है। इन गुणस्थानो मे से किसी भी गुणस्थान मे दर्शन मोह का मूलच्छेद कर यह जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है। यदि कारण वश कुछ न्यूनता रहती है तो द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है और इस प्रकार श्रेण्यारोहण करने के लिये तत्पर हो जाता है ॥२२॥

चतुरम्भोधिरोधोधराधराधित्यका काननानोकहस्कन्धसन्निषण्णनागाङ्गनागानपतङ्गगो विकसितकीर्तिपुण्डरीकोत्तंसितसलिलसुरसीमन्तिनीसार्थाः सरयो(सूरयो)ऽधुना चतुर्विधधर्म्यध्यानमभिदधाना आगेत्यादि दंध्वनन्ति—

आज्ञा सर्वज्ञवाणी निजवृजिनजयोपायचिण्ता त्वपायः
कर्मोद्रेको विपाकस्त्रिभुवनरचनाऽऽलम्बि संस्थानमुक्तम् ।
तत्रायं स्याद्विवेको विचय इह ततो योगिनः स्युः कदाचित्
नाकस्त्रीनेत्रनीलोत्पलवनसुहृदः कर्म-पाशच्छिदो वा ॥२३॥

स्युर्भवेयुः। के ? योगिनो ध्यानिनः। कथम् ? कदाचित् कस्मिंश्चित्काले। किंभूताः ? नाकस्त्रीनेत्रनीलोत्पलवनसुहृदः। नाको द्यौस्तत्र स्त्रियः देववनितास्तासां नेत्राणि लोचनानि तान्येव नीलोत्पलानीन्दीवराणि तेषां वनं समूहस्तस्य सुहृदो मित्राः स्वर्गाङ्गनानयननीलोत्पलकाननविकासकौमुदीचन्द्रा इत्यर्थः। अथ कर्म्मपाशच्छिदो वा कर्म्माणि ज्ञानावरणादीनि तान्येव पाशा बन्धनानि तान् छिन्दन्ति ते कर्म्मोच्छेदाद्रुच्छलदतुच्छा-

च्छाविच्छिन्नसंवेदनाद्यात्मकमोक्षा वा। क्व? इह जगति। कस्मात्? ततो धर्म्मध्यानात्। तत्किंसंख्यम्? चतुर्विकल्पं। केनोल्लेखेन? आज्ञाविचयोऽपायविचयो विपाकविचयः संस्थानविचयश्चेति। तत्र केयमाज्ञा कश्चासौ तद्विचय इति? भवति। का? आज्ञा सर्वज्ञवाणी जिनभारतीत्यर्थः। कोऽयमपायो? भवति। कः? अपायः। का? निजवृजिनजयोपायचिन्ता निजानि स्वकीयानि वृजिनानि कर्म्माणि तेषां जय पराजयस्तस्योपायः प्राप्त्युपायः तस्य चिन्तनमाध्यान स तथा स्यात्। को विपाकः? कः कर्मोद्रेकः कर्म्मणामुद्रेकोऽनुभवस्तथोक्तं। कथितम्। किं? संस्थानम्। किंभूतम्? त्रिभुवनरचनालम्बि ऊर्ध्वाधोमध्यभेदभिन्नत्रिभुवनाकाराश्रयीत्यर्थः। तत्र कोऽत्रविचयः, स्यात्? कोऽयं? विचयो विचयनं विवेको विचारणा। एतत् सम्यक्परीक्षेति यावत्। तद्यथा उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कामोदयत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्येत्थमेवेद नान्यथावादिनो जिना इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचयः। अथवा स्वय विदितपदार्थतत्त्वस्य सतः पर प्रतिपिपादयिषोः स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थस्तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचयः। जांत्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखाः सौख्यार्थिनः सम्यग्मार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायविचिन्तनमपायविचयः। अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानचरित्रेभ्यः कथं नाशो मे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः। कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्यर्थ फलानुभवन प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः। लोकसंस्थानविचयाय स्मृतिसमन्वाहार. सस्थानविचयः। उत्तमक्षमादिस्वभावं दशविकल्पधर्म्ममुक्तं तत्सर्वमपि चतुर्धा भवतीत्यवसेयम्। धर्म्मध्यानानुध्यानाच्च केचन योगिनो निलिम्पवनितावदनकुमुदवनोल्लासशरदिन्दवः सम्पनीपद्यन्ते। अपरे पुनः निखिलकर्मबन्धविध्वस्तसन्तानका. शुद्धात्मस्वभावं मोक्षं प्राप्नुवन्तीति प्रतिपादितवृत्ततात्पर्यार्थः ॥२३॥

आगे धर्म्यध्यान के भेद और उसके फल का निरूपण करते है—

'सर्वज्ञ भगवान् की वाणी को आज्ञा कहते है। अपने पापो के जीतने वाले उपायो का ध्यान करना अपाय कहलाता है। ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय को विपाक कहते है और तीन लोक की रचना का आलम्बन करना सस्थान कहा गया है। इन आज्ञा आदि के विषय मे ध्यानी मनुष्य का जो विवेक है वह क्रमश आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थान विचय कहलाता है। इस ध्यान के धारण करने वाले योगी, कदाचित् देवाङ्गनाओ के नेत्र रूपी नील कमलो के वन को विकसित करने वाले चन्द्र होते है अथवा कर्मरूपी पाश छेदने वाले—सिद्ध हो जाते है।'

विशेषार्थ—वीतराग सर्वज्ञ देव ने पदार्थ का जैसा निरूपण किया है वह वैसा ही है इस प्रकार जैनेश्वरी वाणी को आज्ञा रूप मानते हुए उसका निरन्तर चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है। मै स्वार्जित पाप के प्रभाव से ही चतुर्गति रूप ससार मे नाना दु ख उठा रहा हूँ इन पापो को किस प्रकार जीत सकूगा इत्यादि विचार करना सो अपाय-विचय धर्म्यध्यान है। ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मो का तथा मतिज्ञानावरणादि एक सौ अडतालीस उत्तर कर्मो के उदय का—फल का चिन्तवन करना विपाक-विचय है और तीन लोक अथवा उसके अगभूत किसी द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि के आकार का चिन्तवन करना सो सस्थान-विचय धर्म्यध्यान है। इन

ध्यानो को धारण करने वाला मनुष्य यदि उपशम श्रेणी माढ़कर अष्टमादि गुणस्थानो में शुक्लध्यान के प्रथम भेद का चिन्तन करता हुआ मरण करता है तो स्वर्ग मे देव होता है। वहाँ अपने शरीर की सहज सुन्दरता के द्वारा देवागनाओं के नेत्ररूपी नील कमलो के समूह को चन्द्रमा के समान विकसित कर देता है और यदि सप्तम गुणस्थान मे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो, क्षपक श्रेणी माढ कर अष्टमादि गुणस्थानो मे शुक्लध्यान के प्रथम भेद का चिन्तन करता है तो दशवे गुणस्थान के अन्त में समस्त मोहनीय कर्म का क्षय कर बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान मे पहुंच जाता है। वहा अन्तर्मुहूर्त रुक कर शुक्लध्यान के द्वितीय भेद का चिन्तन करता हुआ अवशिष्ट तीन घातिया कर्मो का क्षय कर केवलज्ञानी बन जाता है। वहा कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक देशोन कोटि वर्ष प्रमाण रुक कर शुक्लध्यान के तृतीय भेद के प्रभाव से असख्य गुणी निर्जरा करता हुआ चौदहवें गुणस्थान मे प्रवेश करता है और वहां लघु अन्तर्मुहूर्त मे ही शुक्ल ध्यान के चतुर्थ भेद के प्रभाव से अघातिया कर्मो की अवशिष्ट ८५ प्रकृतियो का क्षय कर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार धर्म्यध्यान का साक्षात् फल स्वर्ग की प्राप्ति करना है और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति करना है ॥२३॥

अधुना चतुर्विधधर्म्मध्यानाभ्यसनस्थिरीकृतासनो मन्दीभूतोच्छ्वास-निःश्वासप्रचारः शुक्लध्यानोपयोगवान् योगी भवतीति बम्भणन्ति भारत्यम्बुवाहिनीवारिक्रीडाकरीन्द्राः सूरयो धर्म्मध्यानेत्यादिना—

[1]धर्म्मध्याने प्रबन्धाभ्यसनसमधिक[2] स्थैर्यलब्धावतारे
प्राणायामोर्म्यबाधाऽऽसनजयहृदयस्थानविज्ञानसारे ।
द्विःस्रोतोवाहिसर्वाऽऽशयशमनसमासन्नसंसारपारे
सिद्धश्चित्तप्रचारै(रे)र्भवति कृतमतिः शुक्लयोगोपचारे ॥२३॥

भवति संपद्यते । कः ? कृतमतिः पुण्यज्ञानः । किंभूतः ? सिद्धः कृतकृत्यः साधितसाध्यार्थः । क्व ? शुक्लयोगोपचारे । शुक्लः कश्मलभावरहितो योगो ध्यानं तत्रोपचारः प्रवर्तनं तस्मिन् । कस्मिन् सति ? चित्तप्रचारे मनःप्रचरणे । किंभूते ? धर्मध्याने प्रबन्धाभ्यसनसमधिकस्थैर्यलब्धावतारे धर्म्यध्याने । शुक्ल (धर्म्ममुक्त) लक्षणं तत्र प्रबन्धः सातत्वेनाभ्यसनं मुहुर्मुहुः प्रवर्तनं तेन समधिकमुत्कटं तच्च स्थैर्यं स्थिरत्वं तस्य लब्धः प्राप्ता (प्राप्तोऽ) वतारोऽवतरणं (यस्मिन्) तस्मिन । पुनः किंभूते? प्राणायामोर्म्यबाधासनजयहृदयस्थानविज्ञानसारे प्राणा उच्छ्वासनिःश्वासादयः तैः कृत आयामः खेदः तस्योर्म्मिः प्राचुर्यं तया बाधा पीडा, आसनमासनविशेषः तयोर्जयः पराजयस्तच्च तत् हृदयस्थानं च तत् विज्ञानं विगतसंशयज्ञान नानाज्ञानं च तेन सारं सारतरं तस्मिन् । मुहुः किंभूते ? द्विःस्रोतोवाहिसर्वाशयशमनसमासन्नसंसारपारे । द्वौ वारौ द्विः । स्रोतो जलप्लवः शुभमशुभं वा वहतीति वाही । सर्वः समस्तः । आशयश्चित्तं तस्य शमनमुपशमः सकलक्रियाविरामः तेन समासन्नः सम्यग् निकटः संसारस्य पारस्तटस्तस्मिन् । शुभध्यानाभ्याससम्पादिताचलस्वरूपे प्राणासनजयपरचित्तारोपित सद्बोधबन्धुरे पुण्यपापोपयोगिनिखिलक्रियो(क्रिया)पगमप्राप्तसंसाराकूपारपारे चेतोविचरणे सकलनिष्ठितार्थः कृती शुक्लध्यानानुध्यानवान् भवतीति निरूपितवृत्ततात्पर्यार्थः ॥२४॥

आगे जो मनुष्य चार प्रकार के धर्म्मध्यान का अभ्यास करता है वह शुक्ल ध्यान को पाकर कृतकृत्य हो जाता है—

१. धर्म्मध्यानप्रवन्ध त. । २.समधिकास्थैर्यं ख० ।

यह निरुपण करते है—

'निरन्तर के अभ्यास से जिसमे स्थिरता की वृद्धि हो रही है, प्राणायाम की परम्परा को प्राप्त होने वाली पीडा तथा आसन सम्बन्धी दु खो को जीतने वाले हृदय मे स्थित विशिष्ट ज्ञान ही जिसमे सार रूप है, तथा शुभ अशुभ चित्त की प्रवृत्ति को शमन करने के कारण जिसमे ससार का अन्तिम तट निकटस्थ हो रहा है, ऐसे धर्म्यध्यान मे जब चित्त का प्रचार होने लगता है तब पवित्र ज्ञान का धारक यह कुशल मानव शुक्लध्यान धारण करने मे कृतकृत्य हो जाता है।'

विशेषार्थ—यद्यपि इस जीव का चित्त आर्त्त-रौद्र ध्यान मे अधिक प्रवृत्त होता है और धर्म्यध्यान मे कम। तो भी जब धर्म्यध्यान का बार-बार अभ्यास करता है तब उसमे भी चित्त अधिक काल तक स्थिर रहने लगता है। ध्यान के समय श्वासोच्छ्वास की गति मन्द पड़ जाती है और एक ही आसन से अधिक समय तक बैठना पडता है। इन दोनो से इस जीव को कष्ट होता है परन्तु इसका हृदय उक्त दोनो कष्टो को बडी दृढता के साथ जीतता है। इस कष्ट-सहिष्णु प्राणी के हृदय मे एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान अथवा भेद-विज्ञान विद्यमान रहता है जिसके प्रभाव से वह शाश्वत्प्राप्त होने वाले कष्ट से कभी व्यग्र नही होता है। ध्यान के पूर्व इस जीव की मानसिक प्रवृत्ति कभी पुण्य रूप होती थी और कभी पाप रूप, परन्तु अब वह उक्त दोनो ही प्रवृत्तियो को शान्त कर देता है और ऐसा करने से उसके ससार रूपी समुद्र का अन्तिम तट

निकटस्थ हो जाता है। यथार्थ मे जब तक यह जीव शुभ और अशुभ के विकल्प मे पडा रहता है तभी तक इसका ससार विद्यमान रहता है परन्तु जब शुभ और अशुभ का विकल्प छोडकर शुद्ध परिणमन करने लगता है तब इसका ससार बहुत ही अल्प रह जाता है। यह सब कार्य धर्म्यध्यान मे होता है अत उक्त धर्म्यध्यान मे जिसका चित्त प्रवृत्त होने लगता है। वह बडा भाग्यशाली है—बड़ा ही बुद्धिमान् है। ऐसा प्राणी शुक्लध्यान धारण कर शीघ्र ही कृतकृत्य हो जाता है—कर्म-क्षय कर मुक्त हो जाता है ॥२४॥

चतुर्भेद धर्म्यध्यानं व्याख्याय चतुःप्रकारं शुक्लध्यानं व्याख्यातुकामा निखिलाख्यायिकाख्यानकव्याख्यानक्षीणकुक्षयः प्रसंख्यान प्रकाशकुशेशय प्रकाशनोष्णरश्मयः सोमदेव सूरयः आद्य शुक्लध्यानस्वरूप(पं)निरूपयन्तो नानाभावेत्यादि प्रतिपादयन्ति—

नानाभावः पृथकत्वं प्रवचनविषयालोकनार्को वितर्कः
संक्रान्तिस्तेन कुर्वन् क्रमविधिवशतो वाचि वाच्ये त्रियोग्याम् ।
वीचारो द्रवा आद्यः स्थितमशुममलः पर्यये वा द्विमार्गः ।
कर्मारीणामरीणां स्थितिमनुतनुते स्वर्गगो मोक्षगश्च ॥२५॥

अनुतनुते विस्तारयति। काम् ? स्थिति व्यवस्थितिम्। किंभूताम् ? अरीणामचला कार्यक्षमामित्यर्थः। केषाम् ? कर्मारीणाम् कर्माण्येवारयस्तेषां वृजिनाराति सन्ततीनाम्। कः ? आद्यः ? शुक्लः। किंविशिष्टः ? द्विमार्गः द्वौ मार्गौ यस्यासौ द्विमार्गः ईषत्कर्मक्षपणाऽक्षपण रूपः। कुतः ? स्वर्गगो मोक्षगो वा स्वर्गापवर्गप्रापको यतो विशेषणमपि हेतुत्वेन द्रष्टव्यम्। स कः ? पृथक्त्ववितर्कवीचार इति। भवति। किं ? पृथक्त्वं पृथगित्यस्य भावः। को ? नानाभावो नानात्वम्। अथ कोऽयं वितर्कः। विशेषेण

तर्कणमूहनश्रुतज्ञानम् 'वितर्कःश्रुतम्' इत्यभिधानात् । कोऽसौ ? प्रवचन-विषयालोकनार्कः प्रवचन परमागमस्तस्यविषयस्तेन परिच्छेद्यो जीवा-जीवादिस्तस्यालोकन दर्शन प्रकाशन तत्रार्कइवार्क. स्वपरप्रकाशकत्वात् । ननु कः किलायम् वीचार., वीचारः संक्रान्तिः परिवर्तन । केन ? तेन केन ? प्रवचनविषयालोकनार्केण । कस्मात् ? क्रमविधिवशत. । क्रम (क्रमः) परिपाटी, विधीयत इतिविधिः कार्यं तस्य वशः आयत्तत्वम् तस्मात् । कस्यां ? वाचि व्यञ्जने वचन इति यावत् । न केवलं, वाच्ये-ऽध्येयेऽर्थपर्यायेंऽशे वा । न केवलं, त्रियोग्या च, त्रयाणां योगानां समाहार-स्त्रियोगी तस्याम् । योगः कायवचनमनः कर्मलक्षणः । क्रमेत्याद्युक्तं प्राक्तदिदानी कथ्यते । द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति पर्यायं त्यक्त्वाद्रव्यमिति वाच्यसंक्रान्तिः । एकं प्रवचनवचनमुपादाय वचनान्तरमवलम्बते तदपि विहायान्यदिति वचन सक्रान्तिः । काययोग त्यक्त्वा योगान्तरं (अवलम्बते तदपि त्यक्त्वा) काययोगमिति योगसक्रान्तिः । एव परिवर्तन वीचार इत्युच्यते । तदेतत्सामान्यविशेषनिर्दिष्टं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्लञ्च । कि कुर्वन् ? तनुयन् (?) ध्यायन् । कम् ? अणु परमाणुम् । किंभूतम् ? स्थितम् । क्व ? द्रव्ये पर्यये वा द्रव्यपरमाणु चिन्तयन्नित्यर्थः । आहितवितर्कसाम-र्थ्योऽर्थव्यञ्जनं कायवचसी च पृथक्त्वेन संक्रान्तापरिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेन मनसाप्यपर्याप्तवालोत्साहवदध्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तनुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन् । पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवतीति व्याख्यातवृत्ततात्पर्यार्थः ॥२५॥

आगे शुक्लध्यान के प्रथम भेद का वर्णन करते है—

'शुक्लध्यान के प्रथम भेद का नाम पृथक्त्व-वितर्क-विचार है जिसका अवयवार्थ इस प्रकार है । पृथक्त्व का अर्थ नाना रूपता है, वितर्क का अर्थ श्रुत है, यह श्रुत परमागम के विषय भूत पदार्थ को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान है । विचार

का अर्थ सक्रान्ति है, यह सक्रान्ति शब्द, अर्थ और मन वचन काय रूप तीन योगो मे क्रमपूर्वक परिवर्तन से होती है । यह शुक्लध्यान निर्मल है, कर्मो का क्षय अथवा उपशम करना ये दो इसके मार्ग है–कार्य है, यह द्रव्य अथवा पर्यायरूप मे अवस्थित परमाणु का ध्यान करता है–उसे अपना विषय बनाता है, कर्म रूप शत्रुओ की अचल स्थिति करता है–कर्म रूप शत्रुओ को आगे बढने से रोकता है और इसके धारण करने वाले स्वर्गगामी अथवा मोक्षगामी होते है' ।

'विशेषार्थ—शुक्लध्यान का प्रथम भेद आठवे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक होता है । इन गुणस्थानो मे मन वचन और काय मे तीनो योग विद्यमान रहते है तथा दशम गुणस्थान तक सज्वलन कषाय का उदय भी रहता है, अत इच्छापूर्वक शब्द अर्थ और योगो मे सक्रमण होता रहता है । कभी शब्द का ध्यान करता है तो कभी शब्द को छोडकर अर्थ का ध्यान करने लगता है, कभी काय योग का अवलम्बन करता है तो कभी वचन योग का और कभी मनोयोग का अवलम्बन करने लगता है । इस प्रकार इस ध्यान मे अर्थ, व्यजन और योग का सक्रमण जारी रहता है । यदि उपशम श्रेणी वाले जीव के यह ध्यान होता है तो वह चारित्र मोह का उपशम करता है और क्षपक श्रेणी वाले जीव के होता है तो वह चारित्र मोह का क्षय करता है । इस ध्यान के पहले कर्म रूपी शत्रुओं का प्रसार—आस्रव होता रहता है परन्तु इस ध्यान के होते ही उनका प्रसार रुक

जाता है। उनका सवर होने लगता है और ग्यारहवे गुणस्थान मे पहुँचते-पहुँचते एक साता वेदनीय को छोड़कर समस्त कर्म–प्रकृतियो की रोक हो जाती है—उनका सवर हो जाता है। यह ध्यान अपने आप मे अत्यन्त निर्मल होता है और इतना निर्मल कि अन्तर्मुहुर्त के भीतर ही कर्मशिरोमणि मोहनीय कर्म को क्षीण अथवा उपशान्त कर देता है। यह ध्यान प्रारम्भ मे समस्त द्वादशांग और उनमे प्रतिपादित पदार्थो को अपना विषय बनाता है परन्तु ज्यो ज्यो आगे बढता जाता है त्यो-त्यो उसका विषय सूक्ष्म होता जाता है इतना सूक्ष्म कि अन्त मे परमाणु ही इसका विषय रह जाता है। परमाणु, पुद्गल द्रव्य का वह अविभाज्य अश है कि जिसमे द्रव्य अथवा पर्याय का विकल्प नही किया जा सकता। अत यहाँ परमाणु को द्रव्य और पर्याय दोनो रूप मे अवस्थित बतलाया है। इस ध्यान का धारक यदि उपशम श्रेणी मे मरण करता है तो स्वर्ग जाता है और क्षपकश्रेणी के द्वारा यदि आगे बढता है तो नियम से मोक्ष प्राप्त करता है इसमे सदेह नही है ।।२५।।

सुरासुरसमितिसहितसुरेश्वर संक्षोभकारिभुवनाभवनत्रिकालभाविकथंचिद्भावाभावनित्यानित्यैकानेकव्याप्यव्यापिस्वभावभावावभासिसूक्ष्मासूक्ष्मान्तरितवस्तुसाक्षात्कारिबोधदृक्सुखशक्त्यनन्तात्मकात्मरूपावबोधिकेवलज्ञानस्वभाव सर्वज्ञत्वाविर्भावि द्वितीयं शुक्लध्यानं व्याचिख्यासवस्त्रिभुवनभव्याम्भोजभानवो धर्म्मध्यानाधिनायका गुप्त्याद्यैरित्यादि वावदन्ति सूरयः–

गुप्त्याद्यैः कर्म [1]रुद्ध्वाऽभिपतदुपचितं कर्म सर्वं विधुन्वन्नेकत्वोहा[2]विचाराद्वृजिनविजयिनी वीथिकां गाहमानः।

---

१ रुद्धो—त०। २. त्वेहा—त०।

एकं वाऽऽश्रित्य योगं क्रमशुमनुसरन् द्रव्यगं भावगं वा
शुक्ले वापि द्वितीये भवति जिनपतिर्घात्यघध्वंसनेन ॥२६॥

भवति सम्पद्यते । कोऽसौ । जिनपति जिनेन्द्रः । केन घात्यघध्वंसनेन ज्ञानदर्शनसुखवीर्यात्मस्वभावघ्नन्तीतिघातीनि तानि अघानि कर्म्माणि ज्ञानावरण दर्शनावरणमोहनीयान्तरायाणि तत्र ज्ञानावरणं पञ्च प्रकारं मतिश्रुतावधिमनपर्ययकेवलज्ञानावरणमिति। दर्शनावरणं नवविधं चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणमिति निद्रा निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यान गृद्धिरिति । मोहनीयमष्टाविंशतिभेदम् । तद्विविधं दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयञ्चेति । तत्राद्य त्रिविध सम्यक्त्वमिथ्यात्व तदुभयभेदात् । द्वितीयं पञ्चविंशति भेदम् । तथाहि क्रोधमानमायालोभाः प्रत्येकं चतुर्विकल्पा अनन्तानुबन्धप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानसंज्वलनरूपाः षोडशकषाया· तथा नव नोकषायाः हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सास्त्रीपुनपुसकवेदाः । अन्तराय पञ्चविध दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात् । तानि तेषा ध्वंसनमधः पातन भ्रंशनमात्मनः पृथक्करणमिति यावत् । तेन, क्व ? द्वितीयशुक्लध्याने एकत्ववितर्कावीचारे । किं कृत्वा । रुद्ध्वा संवृत्य । अनेन संवराभिधान कृलम् । 'किम् ? कर्म पौद्गलिकं ज्ञानावरणादि । किभूतम् ? अभिपतदभ्यास्त्रवत प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशला व्रजदित्यर्थ. । कै. ? गुप्त्याद्यै. गुप्तिराद्या येषा समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयादीनाम् । यत· संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः। प्राणिपीडापरिहारार्थं सम्यगयनं समितिः, मनोज्ञे स्थाने धत्त इतिधर्मः । सम्पच्छरीरादीनामनित्याशुच्यादिचिन्तनमनुप्रेक्षाः बुभुक्षोदन्यादिवेदनोत्पत्तौ कर्म्मनिर्जरार्थं सहनं परीषहस्तस्यजयः परीषहजयः । अत्रादिशब्दाच्चारित्रप्रतिपत्तिः । एतेषां संवरणक्रियायां साधकतमत्वात्करणनिर्देशः । अनेनान्ये तीर्थस्नानदीक्षा शीर्षोपहारदेवताराधनादयो निवर्त्तिता भवन्ति । रागद्वेषमोहोपात्तस्य कर्म्मणोऽन्यथानिवृत्यभावात् । कि कुर्वन् । विधुन्वन् क्षिपन् निर्जरयन् । किम् ? कर्म्मं । किंभूतम् ? उपचितम् पुष्टं स्थितिरूपतां नीतम्। कस्मात् ? एकत्वोहाविचारात् । एकत्वेन

दृग्ज्ञानचारित्रात्मकात्मद्रव्यस्योहस्तस्मादवीचारोऽसंक्रान्तिरविचलनं तस्माद्ध्यानरूपात्तपसः। ननु च तपोऽभ्युदयाङ्ग शिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिनिमित्तत्वाभ्युपगमात्। कथं निर्जराङ्ग स्यादिति नैष दोषः एकस्याप्यनेक कार्यकरणदर्शनात्। अग्निवत्, यथाग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्मसाङ्गारादादि प्रयोजनमुपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्रकोविरोधः ?। पुनः किंभूतः गाहमानोव्याप्नुवन्। काम् ? वीथिका मार्गम्। किंविशिष्टाम् ? वृजिनविजयिनीम् वृजिनानि कर्म्माणि विजयतीत्येवंशीला ताम्। कस्मिन् गुणस्थाने कासां कर्म्मप्रकृतीनां जय इति। तत्र चरम शरीरस्यान्यजन्मनि सुरतिर्यक् नरकायुषा क्षयः। चतुर्थासयताद्यप्रमत्तगुणस्थानान्तेऽनन्तानुबन्धिचतुष्कं मिथ्यात्वमिश्रसम्क्त्वमिति सप्त प्रकृतयः क्षीयन्ते। अनिवृत्तिगुणस्थाने, (षट्त्रिंशत् प्रकृतयः क्षीयन्ते) तथाह्यनिवृत्तिर्नवभागीक्रियते। तत्र प्रथमांशे निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिश्वभ्रगति श्वभ्रगत्यानुपूर्वी तिर्यग्गतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्वैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरातपसूक्ष्मासाधारणोद्योतानि जीयन्ते। द्वितीयेऽष्टौ कषाया अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानरूपाः क्रोधमानमायालोभाः। तृतीये नपुंसकवेदः। चतुर्थे स्त्रीवेदः। पञ्चमे हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्साषट्कम्। षष्ठे पुंवेदः। सप्तमे संज्वलनक्रोधः। अष्टमे मानः। नवमे माया। इति षट्त्रिंशत्प्रकृतयः। सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने सूक्ष्मोलोभः। क्षीणकषाय गुणस्थाने द्विचरमसमये निद्राप्रचलेक्षीयेते। अन्त्यसमये चतुर्दश ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणचतुष्कमन्तरायपञ्चकञ्चेति। किं कुर्वन् ? अनुसरन् अनुगच्छन्। कम् ? योगम्। किंभूतम् ? एकं वापि काययोगमेव कर्मयोगमेव वेत्यर्थः। किं कृत्वा ? आश्रित्य संश्रित्य। कम् ? अणुं परमाणुम्। कथंभूतम् ? द्रव्यगं भावगं वा द्रव्यस्थितं भावस्थित मित्यर्थः। स एव पुनः समूलतूलं मोहनीयं निर्दिधक्षन्ननन्तगुणविशुद्धियोगमाश्रित्य बहुतराणां ज्ञानावरणसहायीभूतानां कर्म्मप्रकृतीनां सम्बन्धं निरुन्धन् स्थितिनाशक्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगो निवृत्तार्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिरपि चलितमनाः क्षीणकषायो

वैडूर्यमणिरिव निरुपमलेपोध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इत्युक्तम् । एकत्ववितर्क शुक्लध्याने निर्दग्धघातिकर्मेन्धनप्रज्वलितकेवलज्ञानगभस्तिमण्डलो मेघपञ्जरनिरोध निर्गति इव घोरघृणिर्देदीप्यमानो भगवास्तीर्थंकर इतरो वा केवली लोकेश्वराभिगमनीयोऽर्चनीयश्चोक्तकार्येणायुषः समुहूर्ताष्टवर्षोनपूर्वकोटी विहरतीति निर्णीतार्थः ॥२६॥

आगे शुक्लध्यान के द्वितीय भेद का स्वरूप और कार्य बतलाते है—

द्वितीय शुक्लध्यान के होने पर यह जीव आनेवाले नवीन कर्म का गुप्ति आदि के द्वारा संवर करके पूर्व सचित समस्त कर्मो की निर्जरा करता हुआ आगे बढता है और सक्राति रहित एकत्ववितर्क के प्रभाव से पाप समूह को जीतने वाली वीथी मे प्रवेश करता है, वहाँ तीन मे से किसी भी एक योग का आश्रय कर द्रव्य अथवा भावरूप मे अवस्थित परमाणु का ध्यान करता है और क्षण एक मे घातिया कर्म रूप पापो का विध्वस कर जिनेन्द्र बन जाता है ।'

विशेषार्थ—द्वितीय शुक्ल ध्यान का नाम एकत्ववितर्क-वीचार है । यह बारहवे गुणस्थान मे प्रकट होता है इस ध्यान के धारक जीवो के मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो चुकता है और इसीलिए उनकी इच्छा का अभाव रहता है शब्द अर्थ और योगो की सक्रान्ति का प्रमुख कारण इच्छा है। इस ध्यान मे इच्छा का अभाव है अत सक्रान्ति का भी अभाव ही है । यह ध्यान तीन योगो मे से किसी भी एक योग के आलम्बन से होता है । जिस योग के आलम्बन से प्रारम्भ होता है उसी

से उसकी समाप्ति भी होती है। बारहवे गुण-स्थान मे केवल सातावेदनीय कर्म का आस्रव बाकी रह जाता है सो उसे भी इस ध्यान का धारक जीव गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के प्रभाव से उत्तरोत्तर कम करता जाता है। जो कर्म पहले से सत्ता मे विद्यमान रहते है उनकी निर्जरा करता जाता है और ध्यान रूप सम्यक् तप के प्रभाव से बारहवे गुण-स्थान की उपान्त्य तथा अन्तिम अवस्था रूप उस वीथी मे प्रविष्ट हो जाता है जहा अवशिष्ट तीन घातिया कर्म और नाम कर्म की तेरह प्रकृतियों पर विजय प्राप्त की जाती है। वहा यह जीव किसी भी एक योग का आलम्बन कर द्रव्य अथवा भावरूप से अवस्थित परमाणु का ध्यान करता है—उसी पर अपने उपयोग को स्थिर करता है तथा क्षण एक मे समस्त घातिया कर्म रूप पाप समूह का विध्वस कर जिनेन्द्र हो जाता है। सयोग केवली जिन कहलाने लगता है ॥२६॥

द्वितीयशुक्लध्यानेद्धोद्धुरधूमध्वजदग्धघातिकर्म्मेन्धनस्य प्रबलबलोद्घट्टितघनाघनसंघघर्मांशोरिव सहजकेवलज्ञानज्योतिः प्रकाशितनिखिलार्थसार्थस्य सार्वस्य भगवतो यज्जायते तदुपदर्शयन्तः परमाचार्याः सा सा लब्धिरित्याद्यनुशासति—

सा सा लब्धिस्ततोऽस्मिन् वपुरतिशयवच्चातुरस्याभिरामं
श्रीर्बाह्याभ्यन्तरी चाद्भुतविभवभवा सर्वसत्वप्रमोदः।
आनन्दोऽन्यानपेक्षो दुरघविगटनाद्वेद्यमस्ति स्वकार्ये
नो ते सार्वस्य[1] तस्मात् प्रभु न च नियमोऽघेष्विवान्येषु यस्मात्।२७।

१. तस्या त०।

भगवति । का ? सा लब्धिः प्रसिद्धा 'नवसंख्या नवलब्धयः' इत्यभिधानात् । कास्ताः ? ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्यसम्यकत्वचारित्रलक्षणाः । तत्र निखिलज्ञानावरणात्यन्तापगमे क्षायिकं केवलज्ञानं, सकलदर्शनावरणविनाशे केवलदर्शनं, दानान्तरायस्याशेषत· क्षयादनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदान, लाभान्तरायस्य शेषस्य निराशात् (निरासात्) परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिना यत् (यतः) शरीर बलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः । कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्योन्मूलनभावादाविभूतोऽतिशयवानन्तो भोग· क्षायिको यतः कुसुमवृष्ट्यादयो विशेषाः प्रादुर्भवन्ति । निरवशेषस्योपभोगान्तरायस्य प्रलयात्प्रादुर्भूता निरुपभोगः (प्रादुर्भूतोऽनन्तोपभोग) क्षायिको यतः सिंहासनचमरछत्रत्रयादयो विभूतयः । वीर्यान्तरायस्य कर्म्मणोऽत्यन्तक्षयात्प्रकटीभूत मनन्तवीर्यं क्षायिकम् । पूर्वोक्ताना सप्तानां प्रकृतीनां क्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वम् । द्विविधचारित्रमोहापोहात्क्षायिकं चारित्रमिति लब्धिर्व्याख्याता । कस्मात् ? ततो द्वितीयशुक्लध्यानाधिरोहणात् । कस्मिन् ? तस्मिन् जिनपतौ । पुनः किम् ? वपुः शरीरम् । किंभूतम् ? अतिशयवत् अतिशया विद्यन्ते यस्य तत् । कियन्तोऽतिशया ? चतुस्त्रिंशदतिशयाः । तत्र दश सहजा. शश्वन्निःस्वेदत्वादयः । दश घातिक्षयजा गव्यूतिशतचतुष्टय सुभिक्षतेत्यादयः । चतुर्दशदेवोपनीताः 'सर्वार्धमागधी या भाषा मैत्री च सर्वजनतायाः' इत्यादयः । भूयः किंभूतम् ? चातुरास्थाभिरामं चतुर्वक्त्रोपशोभि । मुहुः का ? श्रीर्लक्ष्मीः । किंभूता ? बाह्याभ्यन्तरी च बहिर्भवाऽभ्यन्तरे भवा । तत्राद्या प्रातिहार्यगन्धकुटीसमवसरणादिस्वभावा बाह्या । अनन्तचतुष्टयरूपाभ्यन्तरी । भूयः किंभूता ? अद्भुतविभवभवा त्रिभुवनोदरवर्तिप्राणिगणचित्रविचित्राश्चर्यचमत्कारंकारिणी । कः ? सर्वसत्वप्रमोद. सकलभूतसमूह हर्ष हेतुः । कः ? आनन्दः परमसुखम् । किंभूतः ? अन्यानपेक्षः स्रग्वनिताचन्दनाद्यपेक्षारहितः । कस्मात् ? दुरघ विघटनाद् घातिकर्मकलङ्क-

विलयात्। ननु वेदनीय कर्मसद्भावात्परमसुखानुत्पत्तिरितिवदन्तं प्रत्याह-न भवति, किम्? वेद्यं वेदनीयं कर्म। किंभूतम्? प्रभु समर्थम्। कस्मिन्? स्वकार्ये आत्मीय बुभुक्षादिकार्यं करणे। कुतो? यतः समर्थं भवति वेद्यम्। कस्याः सकाशात्? मोहनीयान्तरायप्राप्तेर्मोहनीयान्तरायसत्त्वप्रसिद्धेः कर्मराजत्वादनयोः। यथैव हि सैन्यनायके नष्टे न सैन्यं प्रतिपक्षसैन्य-ध्वंसनादिदु:खोत्पादनसमर्थं तथा वेदनीयमिति। कस्य? ते तव। सार्वस्य[1] (सर्वहितकरस्य)। नास्ति न विद्यते। को? नियमः। स्वकार्यकार्ये च तत्। केष्विव? अघेष्विव। किंभूतेषु? अन्येषु पृथग्भूतेषु गोत्रनामायुः कर्मस्विव। यथैतान्युच्चैर्गोत्रतीर्थंकरत्वतद्देहस्थितित्वादीनि कार्याणि कुर्वन्त्येवेति नियमो न तथा वेद्येइति निश्चयः। संपन्नकेवलज्ञाने भगवति सयोगिजिने नवकेवललब्ध्यात्मकत्वाच्छायत्वाक्षिपक्ष्मोन्मेष निमेषरहितत्व-चतुर्मुखत्वाद्यतिशयोपेतपरमौदारिकशरीरोपेतत्वान्तरङ्गबहिरङ्गानन्यजना-संभविश्रीसमाश्रितत्व हर्षोत्कर्षत्वपरमसुखत्वविपक्षभूतकर्म्मराशेः प्रध्वसा-त्सर्वमिदं संपनीपद्यत इति निर्णीतवृत्तसकलितार्थः॥ २७॥

आगे शुक्लध्यान के द्वितीय भेद मे अर्हन्त भगवान् के जो विशेषताएँ प्रकट होती है उन्हे बतलाते है—

उस द्वितीय शुक्लध्यान के प्रभाव से अर्हन्त भगवान् के क्षायिक, ज्ञान दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र ये नौ लब्धियाँ प्रकट हो जाती है, चौतीस अतिशयो से युक्त तथा चारो दिशाओ मे दिखने वाले चार मुखो से सहित परमौदारिक शरीर प्राप्त होता है, आश्चर्य-कारक विभव को करने वाली अष्ट प्रातिहार्यादि रूप बाह्य और अनन्त चतुष्टयरूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी प्राप्त होती है, समस्त जीवो को आनन्द होता

---

१ सर्वज्ञस्य।

है, और अन्य पदार्थ के आलम्बन से रहित आत्म सापेक्ष अनत सुख प्रकट होता है। अरहन्त भगवान् सब का हित करने वाले है। उनके मोहनीय कर्म रूपी महादु खदायी पाप का क्षय हो चुकता है। अत वेदनीय कर्म यद्यपि विद्यमान रहता है तो भी वह अपना कार्य करने मे समर्थ नही है। जिस प्रकार आयु, नाम और गोत्र कर्म रह कर अपना कार्य करते ही है, उस प्रकार वेदनीय कर्म रह कर अपना कार्य करता ही है ऐसा नियम नही है।

विशेपार्थ—द्वितीय शुक्लध्यान के प्रभाव से घातिया कर्म नष्ट हो जाते है जिससे इस आत्मा की जिनेन्द्र या अरहन्त अवस्था प्रकट हो जाती है। उनके केवल ज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नौ लब्धियाँ प्रकट हो जाती है। केवलज्ञान के द्वारा वे लोकालोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थो को एक साथ जानने लगते है। यह लब्धि ज्ञानावरणकर्म के अत्यन्त क्षय से प्रकट होती है। केवलदर्शन के द्वारा समस्त पदार्थो का सामान्यावलोकन होता है। यह लब्धि दर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से उत्पन्न होती है। दानान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से अनन्त प्राणियो का अनुग्रह करने वाला क्षायिक अभयदान प्रकट होता है। लाभान्तराय के क्षय से कवलाहार न होने पर भी परमौदारिक शरीर को स्थिर रखने वाले अनन्त शुभ सूक्ष्म पुद्गल परमाणु शरीर मे आकर मिलते रहते है। भोगान्तराय के क्षय से पुष्प वृष्टि आदि कार्य होते है। उपभोगान्तराय के क्षय से छत्र, चमर

सिहासन आदि विभूतियाँ प्राप्त होती है। वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्त वीर्य प्रकट होता है और उसके कारण उनकी आत्मा में अनन्त बल विद्यमान रहता है। उनके शरीर मे नि स्वेदता आदि दश जन्म के, योजनशतसुभिक्षता आदि दश केवलज्ञान के और अर्धमागधी भाषा आदि चौदह देवकृत, इस प्रकार चौतीस अतिशय प्रकट हो जाते है। समवसरण मे चारो दिशाओ मे जिनेन्द्र देव का मुख दिखाई देता है। अशोक वृक्ष, छत्रत्रय, सिहासन आदि आठ महाप्रातिहार्यरूप बाह्य लक्ष्मी हो जाती है और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बल इस प्रकार अनन्त चतुष्टय रूप अन्तरग लक्ष्मी उत्पन्न हो जाती है। उनकी यह द्विविध लक्ष्मी अद्भुत वैभव का कारण है—सामान्य जन को यह वैभव दुष्प्राप्य है। जहाँ ये विद्यमान रहते है वहाँ रहने वाले जीवो के सब दु.ख सकट दूर हो जाते है, परस्पर के विरोधी जीव भी अपना विरोध भूल जाते है और आनन्द का अनुभव करने लगते है। अरहन्त भगवान् की आत्मा मे जो आनन्द प्रकट होता है वह अन्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित होता है। ससारी जीवों का आनन्द किसी पदार्थ की इच्छा होने पर उसकी पूर्ति से होता है जैसे क्षुधित मनुष्य को आहार की इच्छा हुई, आहार के मिलने पर उसकी इच्छा पूर्ण हो जाती है अतः वह सुख का अनुभव करता है परन्तु अरहन्त भगवान् को किसी पदार्थ की इच्छा नही होती है अत. उनका सुख परापेक्ष न होकर आत्म सापेक्ष रहता है। यद्यपि उनके असाता वेदनीय का उदय रहता है परन्तु मोहनीय

कर्म का क्षय हो जाने से वह दु ख उत्पन्न नही कर सकता। मोहनीय और वेदनीय इन दोनो मे ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध है। यही कारण है कि अरहन्त के वेदनीय कर्म के उदय मे होने वाले क्षुधा आदि ग्यारह परीषह होते है परन्तु वे दु ख उत्पन्न नही कर सकते। यहाँ कोई प्रश्न करे कि जिस प्रकार आयु नाम और गोत्र ये तीन अघातिया कर्म रहकर अपना-अपना कार्य करते है उसी प्रकार वेदनीय कर्म भी अपना कार्य करता होगा और उसके फलस्वरूप अरहन्त भगवान के क्षुधा तृषा आदि परीपहो का दु ख होता होगा और जब दु ख होता होगा तब अनन्त मुख किस प्रकार सिद्ध होगा ?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है कि जिस प्रकार आयु,नाम और गोत्र रहकर अपना कार्य करते है। उस प्रकार वेदनीय कर्म रह कर अपना कार्य करता ही हो ऐसा नियम नही है। यदि वेदनीय के साथ मोहनीय कर्म का उदय रहता है तो वह अपना कार्य करता है और मोहनीय कर्म का उदय नही रहता है तो वह अपना कार्य करने मे असमर्थ हो जाता है। दशम गुणस्थान तक मोहनीय कर्म का उदय रहता है अत. वहा तक वेदनीयकर्म का उदय आत्मा मे सुख दु.ख का वेदन कराता है परन्तु ग्यारवे गुणस्थान मे मोहनीयकर्म का उपशम और उसके आगे क्षय हो जाता है अतः निमित्त के अभाव मे वेदनीय कर्म अपना काम नही कर सकता। अरहन्त भगवान् ससार के समस्त प्राणियो को उपदेश देते है, देते ही नही उनके दर्शन या सन्निधान मात्र से जीव सुख का अनुभव

करने लगते है इसलिए वे सार्व-सर्वहितकर्ता कहलाते है ।।२७।।

झटितिप्रकटतीव्रानुष्ठानकाष्ठाम्बरवृत्तिं विहाय वपु.परिपोषणपण्डा-पटिष्ठप्रकटोत्कटकूटकपटसितपटा मृगधूर्ताइवातिधूर्त्ता वृन्दारकेन्द्रवृन्दवन्द्य-पादारविन्दस्य सर्व्वज्ञस्य संपन्नकेवलज्ञानस्य देहस्थितित्वान्यथानुपपत्तेः कवलाहारं संगिरन्ते तान्निराचिकीर्षवो यत्रान्येत्यादि वावदन्ति सूरय :—

यत्रान्येऽप्यङ्गभाजो नहि सदसि बुभुक्षादि वाध्या[1] स्तवामी
तद्वाधा तत्र किं ते न च तदुदयवद्वेद्य मन्नादनाम ।
सामान्याहारहेतावपि मदभिमतं स्थायिताङ्गेऽन्थास्ति
देवे स्यादन्यथातो रतिरखिलसुखं नास्ति भुक्तौ हि युक्ति[2] ।।२८।।

नास्ति न विद्यते । का ? युक्तिरूपपत्तिः । कस्याम् ? भुक्तौ भोजने । कुतो ? हि यस्मात् । नहि नैव क्षुदादिवाध्या नैव बुभुक्षापिपासादिपीडनीयः । कस्याम् ? यस्मिन् सदसि यस्मिन् समवसरणे । के ? अङ्गभाजो मनुष्याः । किम्भूताः ? अन्ये सर्वज्ञव्यतिरिक्ता अपि । कस्य ? तव ते । किम् ? भवन्ति । का ? तद्वाधा तस्य क्षुदादेः । क्व ? तत्र समवशरणे । कस्य ? ते तव । ननु चाप्तस्य क्षुदभावे आहारादौ प्रवृत्यभावाद्देहस्थितिर्नस्यादस्ति चासौ तस्मादाहारसिद्धिः । तथाहि भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका देह-स्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत् । अत्र किमाहारमात्रं प्रसाध्यते कवलाहारो वा । प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम् । आहारमात्रस्यास्माभिरभ्युपगमात् । आस-योगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यागमाभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारो देवानां सर्व्वदा कवलाहाराभावेऽप्यस्याः संभवात् । अथ मानसाहारात्तेषां तत्स्थितिस्तर्हि केवलिनां कर्म्मनोक-र्म्माहारात्सास्तु । अथ मनुष्यदेहस्थितित्वादस्मदादिवत् सा तत्पूर्व्विकेष्यते । तर्हि तद्वदेव तद्देहे निःस्वेदत्वाद्यभावः स्यात् । अस्मदादावनुपलब्धस्यापि तदतिशयस्य तत्र संभवे भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यतिशयः किन्न स्यात् ।

१. वाधा न २ मुक्ति त. ।

अस्मदादौ दृश्यस्य धर्म्मस्य च भगवति प्रसाधने तज्ज्ञानस्येन्द्रियजत्वप्रसङ्गः। तथाहि भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वादस्मदादिज्ञानवत्। अतो भगवतः केवलज्ञानलक्षणातीन्द्रियज्ञानासंभवात् सर्वज्ञत्वाय दत्तो जलाञ्जलिः। ज्ञानत्वाविशेषेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे देहस्थितित्वाविशेषेऽपि तद्देहस्थिते रकवलाहारपूर्वकत्वं किन्न स्यात्। अथ वेदनीयसद्भावात्तस्य बुभुक्षोत्पत्तेर्भोजनादौ प्रवृत्ति रित्यप्यनुपपन्नमित्याह न च तदुदयवद्वेद्यम्। न च नैव। तत्प्रसिद्धम्। उदयवदुदयप्राप्तं वेद्यं वेदनीयम्। किमर्थम्? अन्नादनाय अन्नादननिमित्तम्। तर्हि भवतु। क्व? सामान्याहारहेतौ। शुभसूक्ष्मदेहस्थितिनिबन्धनपरमाणुसम्बन्धनिमित्तम्। तत्किम्भूतम्? मदभिमतं ममाभिप्रेतम्। कुतो? यतः स्थायिता भवति स्थितित्वम्। क्व? अङ्गे शरीरे। कथम्? अन्यथापि कवलाहारमन्तरेणापि। कुतो? मोहनीयकर्म्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात्। भोक्तुमिच्छाहि बुभुक्षा सा मोहनीयः मंकार्यत्वात्कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात्। अन्यथा स्याद् भवेत्। क्व? देवे। रतिः, रिरंसाया अपि तत्र सङ्गात्। कमनीयकामिन्यादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरात्तस्याविशेषाद् वीतरागता न स्यात्। विपक्षभावनावशाद्रागादीना हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत्परमप्रकर्षसिद्धेः वीतरागतासंभवः। कस्मात्? द्रव्यभावात् क्रीडाभावावात्। तर्हि भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किन्न स्यात्। भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात्। तथाहि, एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुङ्क्ते विपक्षभावनावशात्स एव पुनरेकवारं भुङ्क्ते, कश्चित्पुनरेकदिनान्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमाससम्वत्सराद्यन्तरित भोजन इति। किञ्च, बुभुक्षायाः पीडानिवृत्तिर्भोजनरसास्वादनाद् भवेत् तदास्वादनञ्चास्य रसनेन्द्रियात्केवलज्ञानाद्वेत्याह। रसनेन्द्रियाच्चेन्मति ज्ञानप्रसङ्गात्केवलज्ञानाभावःस्यात्। केवलज्ञानाच्चेत्? किं भोजनेन, दूरस्थस्यापि त्रैलोक्योदरवर्त्तिनो रसस्य परिस्फुटं तेनानुभवसंभवात्। कथञ्चास्य केवलज्ञानसंभवो भुञ्जानस्य श्रेणीतः पतितवेन प्रमत्तगुणस्थान-

वर्त्तित्वात् । अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नार्हन् भुञ्जानोऽपीति महच्चित्रम् । अस्तु वा तज्ज्ञानसंभवस्तथाप्यसौ केवलज्ञानेन पिशिताद्यशुद्धद्रव्याणि पश्यन् कथं भुञ्जीत ? अन्तरायप्रसङ्गात् । गृहस्था अप्यपलाशत्त्वात्तानि पश्यन्तोऽन्तराय कुर्व्वन्ति कि पुनर्भगवाननन्तवीर्यस्तदकरणे वा तस्य तेभ्योऽपि हीनसत्त्वप्रसङ्गात् । क्षुत्पीडासंभवे वास्य कथमनन्तं सौख्यं स्याद्यतोऽनन्तचतुष्टयस्वामित्वं स्यात् । नहि सान्तरस्या (सान्तस्या) नन्तता युक्ता ज्ञानवत् । न च बुभुक्षापीडैव न भवतीत्यभिधातव्यम् 'क्षुधा समा नास्ति शरीरवेदने' त्यभिधानात् । तस्मात्केवलिनः कवलाहारकल्पनं न युक्तम् । विशिष्टस्य सततंसुखमतः सदैवानन्तसुखसहितस्येति । यत्सभासंनिविष्टसत्त्वमात्राणां सार्व्वसमीपान्मृत्यूत्पत्त्यातङ्ककोपमदनोन्मादनिद्रारोगाशनायादिपीडा न संगच्छते (इति) वेदनमागमिकम् । तदुक्तम् 'तत्र न मृत्युर्जन्म च विद्वेषो नैव मन्मथोन्मादः रोगातङ्कबुभुक्षा पीडा च न विद्यते काचित् ॥' तस्यैव क्षुदादिपीडितत्त्वं ब्रुवाणोऽप्रेक्षापूर्वकारितां सूचयत्यात्मन । यदि भुक्त्यभ्युपगमस्तर्हि रिरसाभ्युपगमनीयेति भवानीपतेरविशेषात् । अथैतद्दोषाद्बिभ्यता रिरंसा नेष्यते तर्हि कवलभुक्तिरपि नाभ्युपगन्तव्येति व्यक्ती कृतार्थवृत्तपदसमूहार्थः ॥ २८ ॥

आगे केवली के कवलाहार होता है इसका निराकरण करते हैं––

हे भगवन् ! आपकी जिस समवसरण सभा मे अन्य प्राणी भी क्षुधा आदि से पीडित नही होते वहा आपको ये बाधाये कैसे हो सकती है ? यद्यपि आपके वेदनीय कर्म का उदय है तथापि वह कवलाहार का निमित्त नही है—इतना तीव्र नही है कि उससे विवश होकर आपको अन्न का भोजन करना पडे । वह सामान्य आहार का कारण है । लाभान्तराय कर्म के क्षय से

प्रति समय जो शुभ सूक्ष्म और अन्य मनुजासाधारण पुद्गल परमाणु आते है, उन्हे ग्रहण करा कर ही वेदनीय का काम पूरा हो जाता है। शरीर की स्थिरता के लिये कवलाहार की आवश्यकता नही क्योकि वह तो अन्य प्रकार से भी हो सकती है जैसा कि देव के शरीर मे होती है। यदि कारण के अभाव मे भी आपके कवलाहार माना जावे तो रति सुख भी मान लिया जावे, परन्तु रति सुख नही माना जाता क्योकि उससे वीतरागता नष्ट होती है। कवलाहार ग्रहण की इच्छा होने पर जब तक उसकी प्राप्ति नही हो जावेगी तब तक आकुलताजन्य दु.ख भी रहेगा और तब उस दशा मे आपके अनन्त सुख कैसे रह सकेगा ? इस प्रकार विचार करने पर 'केवली भोजन करते है इसमे कोई युक्ति नही मालूम होती।'

विशेषार्थ—कितने ही लोग कहते है कि अरहन्त भगवान् के असाता वेदनीय का उदय रहता है अत क्षुधा आदि परिषह होते है और उनके निवारणार्थ वे साधारण मनुष्यो के समान कवलाहार भी करते है। यहा ग्रन्थकर्ता उक्त मत का प्रतिवाद करते हुए कहते है कि अरहन्त भगवान् के समवसरण मे रहने वाले अन्य जीव भी जब क्षुधा तृषा आदि की बाधा से दु खी नही होते तब अरहन्त भगवान् किस प्रकार दु खी हो सकते है ?

प्रश्न—यदि अरहन्त भगवान् की आहारादि मे प्रवृत्ति नही होती है तो उनके शरीर की स्थिति किस प्रकार सम्भव

है ? अस्मदादि के शरीर की स्थिति, आहारादि मे प्रवृत्ति करने से ही संभव है ?

उत्तर—यहां आहार से आप क्या सिद्ध करना चाहते है ? सामान्य आहार की सिद्धि करना चाहते है अथवा कवलाहार की। प्रथम पक्ष मे सिद्ध साधन है क्योकि सामान्य आहार तो हम भी स्वीकृत करते है। आगम मे भी उल्लेख है कि सयोग केवली गुणस्थान तक सब आहारक रहते है। द्वितीय पक्ष मे देवो के शरीर की स्थिति से व्यभिचार आता है क्योकि कॅवलाहार न होने पर भी देवो के शरीर की स्थिति देखी जाती है।

प्रश्न—देवो के मानसिक आहार होता है अत. उससे उनका शरीर स्थिर रहता है ?

उत्तर—यदि ऐसा है तो अरहन्त भगवान् के भी तो कर्म और नोकर्म आहार जारी रहता है।

प्रश्न—देवो का शरीर वैक्रियिक शरीर है अत· उसकी बात दूसरी है परन्तु अरहन्त का शरीर औदारिक शरीर है, अस्मदादि के शरीर के ही समान है अत. उसकी स्थिरता के लिये आहार ग्रहण करना आवश्यक है ?

उत्तर—यदि हमारे शरीर के साथ उनके शरीर की तुलना करते हो तो जिस प्रकार हमारे शरीर मे नि·स्वेदत्व का अभाव है—पसीना आता है—मल-मूत्र निकलता है इसी प्रकार उनके शरीर मे भी यह आपत्ति होनी चाहिये।

प्रश्न—नि:स्वेदत्व आदि का होना यह तो अरहन्त भगवान का अतिशय है ?

उत्तर—तो कवलाहार न होने पर भी उनका शरीर स्थिर रहा आता है यह अतिशय क्यो नही हो सकता ?

इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि जो धर्म अस्मदादि मे देखा जाता है यदि उसकी सिद्धि अरहन्त भगवान् मे की जावेगी तो उनका ज्ञान भी इन्द्रियज ज्ञान कहलाने लगेगा। यहा ऐसा अनुमान भी बनाया जाने लगेगा कि अरहन्त का ज्ञान इन्द्रियज ज्ञान है, ज्ञान होने से, अस्मदादि के ज्ञान के समान और ऐसा करने से अरहन्त के केवलज्ञानरूपी अतीन्द्रिय ज्ञान असभव हो जायगा एव उस दशा मे सर्वज्ञता के लिये जलाञ्जलि देनी पडेगी।

प्रश्न—इससे क्या हुआ ? उनका ज्ञान, ज्ञान होने पर भी अतीन्द्रिय है इन्द्रियज नही।

उत्तर—यदि ऐसा है तो यह भी माना जा सकता है कि उनका औदारिक शरीर है अवश्य, पर उसकी स्थिति कवलाहार पर अवलम्बित नही है।

प्रश्न—उनके वेदनीय कर्म का उदय है अत: उससे क्षुधा तृषा आदि की वेदना होती है और उसे दूर करने के लिये अरहन्त कवलाहार ग्रहण करते हैं ?

उत्तर—उनके वेदनीय कर्म का उदय है पर वह इतना तीव्र नही जो आहार ग्रहण करने के लिये प्रेरित कर सके। आहार की इच्छा असाता वेदनीय की उदीरणा से होती है जो कि छठवे गुणस्थान तक ही सीमित है।

प्रश्न—फिर उनका असाता-वेदनीय का उदय नि.सार ठहरेगा क्या ?

उत्तर—नि·सार क्यों ठहरेगा ? लाभान्तराय कर्म के क्षय से प्रत्येक समय शुभ, सूक्ष्म और असाधारण पुद्गल परमाणु आकर अरहन्त के शरीर के साथ मिलते रहते है। वेदनीय का काम इसी से पूर्ण हो जाता है। खाने की इच्छा को बुभुक्षा कहते है यह इच्छा मोहनीय कर्म के उदय से होती है और क्योंकि अरहन्त होने के पहले ही मोहनीय कर्म का क्षय हो चुकता है अत उनके बुभुक्षा का होना सभव ही नही है।

प्रश्न—इच्छा के बिना ही उनके कवलाहार हो जाता है ?

उत्तर—तो, इच्छा के बिना रति क्रिया भी मान ली जावे क्या हानि है ? और उसके मानने पर वीतरागता समाप्त हो जावेगी तथा शिव-महादेव की अपेक्षा अरहन्त मे कोई विशेषता नही रह जावेगी।

प्रश्न—विपक्ष भावना के वश रागादि मे हीनाधिकता देखी जाती है अतः अरहन्त भगवान् मे राग हानि का परम प्रकर्ष सभव है। जिस वस्तु मे हीनाधिकता देखी जाती है उस वस्तु की हीनता की अन्तिम सीमा होती है और अधिकता की भी अन्तिम अवधि होती है। हम देखते है कि किसी के कम राग है किसी के उससे अधिक है और किसी के उससे भी अधिक है तो इस राग-द्वेष और राग वृद्धि की चरमसीमा होना चाहिये। शिव-महादेव मे राग-वृद्धि की चरमसीमा है क्योकि उसने अपने शरीर को ही अर्द्ध-नारी रूप बना लिया है और अरहन्त भग-

वान मे राग हानि की चरमसीमा का परम प्रकर्ष है क्योकि वे समस्त वस्तुओ का परित्याग कर चुकते है ?

उत्तर—यही बात आहार ग्रहण मे भी योजित की जा सकती है। कोई मनुष्य दिन मे दश बार खाता है, कोई एक बार खाता है, कोई एक दिन के अन्तर से खाता है और कोई दो-चार, दश-बीस आदि दिन के अन्तर से खाता है इससे यह सिद्ध होता है कि कोई ऐसा भी व्यक्ति हो सकता है जो बिलकुल ही नही खाता हो और वह अरहन्त ही है।

इसके सिवाय दूसरी बात विचारणीय यह है कि बुभुक्षा जन्य पीड़ा की निवृत्ति भोजन के रसास्वाद से ही होती है यहाँ यह विकल्प उठाया जा सकता है कि अरहन्त भगवान् के जो भोजन का रसास्वाद होता है वह रसना-इन्द्रिय से होता है या केवलज्ञान से ? यदि रसना इन्द्रिय से होता है तो उनके मतिज्ञान का प्रसग आ जावेगा तथा केवलज्ञान का अभाव हो जावेगा। इस दोष से वचने के लिये यह माना जावे कि केवलज्ञान से भोजन का रसास्वाद होता है तो उन्हें भोजन की आवश्यकता ही क्या है क्योकि वे अपने केवलज्ञान के द्वारा त्रिलोकवर्ती रस का आस्वाद सदा करते ही रहते है, यह रस कितनी ही दूर क्यो न हो और इस दशा मे उनके केवलज्ञान का होना भी सिद्ध नही होगा क्योंकि आगम मे बताया है कि भोजन करने वाले मुनि श्रेणी से पतित होकर छठवे प्रमत्तविरतगुण स्थान मे आ जाते है। अप्रमत्त साधु आहार की कथा मात्र से प्रमत्त हो जाते है फिर अरहन्त भगवान भोजन करते

हुए भी प्रमत्त नही होगे यह कैसे कहा जा सकता है ? अथवा दुष्ट तुष्टि न्याय से कथचित् अरहन्त के भोजन काल में केवलज्ञान मान भी लिया जावे तो उससे दूसरी आपत्ति यह खडी होती है कि केवलज्ञान मे जहा उत्तम पदार्थ दिखते है वही मासादि अपवित्र पदार्थ भी तो दिखते है। फिर मासादि को प्रत्यक्ष देखते हुए भी वे आहार कैसे ग्रहण करेगे ? अमास भोजी गृहस्थ भी भोजन काल मे मासादि के दिखने पर अतराय मानता है और भोजन करना छोड देता है, फिर अनन्त वीर्य के धारक अरहन्त भगवान् इस अन्तराय का विचार न करे यह सभव नही। यदि नही करेगे तो गृहस्थ की अपेक्षा भी हीनता का प्रसग आ जावेगा। इसके सिवाय एक बात विचारणीय और है वह यह कि यदि अरहन्त के भूख की पीडा होती है और उसे दूर करने के लिए वे आहार ग्रहण करते है; ऐसा माना जावे तो उनके अनन्त-सुख सिद्ध नही हो सकेगा। यदि यह कहा जावे कि भगवान् के क्षुधा की पीडा ही नही होती तो यह ठीक नही। क्योकि लोक मे भी प्रसिद्ध है कि 'क्षुधा समा नास्ति शरीर वेदना' अर्थात् क्षुधा के समान अन्य शारीरिक पीड़ा नही है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि अरहन्त भगवान् के क्षुधा तृषा आदि की पीड़ा नही होती और न वे कवलाहार ही ग्रहण करते है ॥ २८ ॥

अपवर्गमार्गोद्वारकग्रन्थ ग्रन्थ्यानभिज्ञाभ्युपगततिर्यंगत्यादिगमनमिथ्यात्वोग्रहमहाग्रहगृहीतापाङ्गगोपचयाङ्गमङ्गीकुर्व्वाणा अङ्गनायत्तत्वाद्ग्रासादिसंपत्तेरिति तदनुग्रहाय तासामपि निखिलकर्म्मापगमलक्षणो मोक्षोऽस्ती-

तिगीर्गुम्फमकार्षुः सिताम्वराः। साक्षेपं तान्निराकुर्वाणा देवेत्यादि रंरगन्ति सूरयः—

देवाधीते सुधीर्वाप्यनुपहतमतिःकोऽबलास्त्वत्पदस्य
योग्या आचारलाभे परममरपदं तेषु त्वद्रूपवत्सु।
स्थानं नैवोत्तरेषु प्रतिनिधिनिधिषु क्लीवयोषिज्जनानां
दौश्चित्याविशेषे यदपि न नरवच्छ्वभ्रमुच्चैर्भजन्ते॥२९॥

हे देव भगवन् कः पुमानधीते क. श्रद्धानं कुर्यान्न कोऽपीत्यर्थः। किं भूतः? सुधीः शोभनबुद्धिः। मुहुः किं भूतः? अनुपहत मतिः संशय-विपर्ययानध्यवसायानुपद्रुतज्ञानः। किम्? योग्या अर्हा भवन्ति। कास्ताः? अवलाः, कस्य? त्वत्पदस्यार्हत्स्थानस्य मोक्षस्येत्यर्थः। कुतो? यतो भवति। किम्? अमरपदं देवस्थानम्। किंभूतम्? परमिन्द्रस्वरूपम्। केषु? तेषु योषिज्जनेषु युवतिलोकेषु। किंभूतेषु? त्वद्रूपवत्सु अर्हद्रूपयुक्तेषु। पुनः किंभूतेषु? प्रतिनिधिनिधिषु प्रतिबिम्बनिधानेषु। कस्मिन्? आचारलाभेसति आचारप्राप्तो सत्याम्। केषाम्? क्लीव योषिज्जनानाम् हीनवनितालोकानाम्। नैव न च भवति पदम्। केषु? उत्तरेषु विजयवैजयन्तापराजितसर्व्वार्थसिद्धिषु। न पुनरेवानन्तबोधादिस्वभावापवर्ग इत्यनुपपन्नं वनितानामप्यस्य संभवात्। तथाहि भवति वनितानामपवर्गः समग्रसाधनत्वात् नरवत्। अत्र वनितानामपवर्ग साध्ये समग्रसाधनत्वादित्ययं हेतुरुपन्यस्तो वर्तते सोऽसिद्धः। तथाहि अपवर्गनिवन्धनो ज्ञानादिपरमप्रकर्षो वनितासु न संभवति परमप्रकर्षत्वात् महातमःप्रभाभूमिभवनपापपरमप्रकर्षवत्। कुत एतदित्यत्राह न चेत्यादि। न च भजन्ते नैव गच्छन्ति। किम्? श्वभ्रं नरकम्। कथम्? उच्चैः सप्तमम्। किंवन्नरवत् मनुष्यवत्। काः? अवलाः। कस्मिन्नप्यविशेषेऽपि विशेषाभावेऽपि। कस्य? दौश्चित्यस्य? पापचित्तस्य। यदि हि सप्तमपृथ्वीसाधनपापप्रकर्षाभावोऽपवर्गनिबन्धनरत्नत्रयपरमप्रकर्षाभावे किमायातं साध्य-

साधनव्याप्यव्यापकभावसिद्धावनयोस्तथाभिधानं युक्तं कथमन्यथाऽन्यस्यापायेऽन्यस्यासंभवेऽतिप्रसङ्गो न स्यात्। शशशृङ्गाभावे सर्व्वस्याप्यभावः स्यादितिचेत् सम्यगिदम्। परमयंनियमोऽस्ति यद्वेदस्यापवर्गनिबन्धनपरमप्रकर्षस्तद्वेदस्य सप्तम पृथ्वीगमनसाधनपापपरमप्रकर्षोऽपि विद्यत एवेति। यथा पुरुष वेदस्य। नह्यन्त्यकायेन व्यभिचारः, पुरुषवेदसामान्यापेक्षयोक्तेरन्यथा नियमो न भवत्येव। अथवा नोक्तानुमाने तत्साधनैनः परमप्रकर्षाभावाद्धेतोरपवर्ग निबन्धनपरमप्रकर्षो वा तासु निषिध्यतेऽपितु परमप्रकर्षत्वान्निदर्शनोपलब्धसाध्यव्याप्तिकात्। नचात्र केनचिद् व्यभिचाराः, वनितासम्बन्धिनः कस्यचित्परमप्रकर्षस्यासंभवात्। मायापरमप्रकर्षोऽस्तीति चेत्? न, वनितानां मायाबाहुल्यमात्रस्यैव प्रवचने प्रसिद्धेरन्यथा नरवन्महातमोभूमिप्रसङ्गो दुर्निर्वारः स्यात्। 'मायापरमप्रकर्षादन्यत्वे सति' इति विशेषणाद्वा न दोषः। तस्मान्न संवेदनादिपरमप्रकर्षोऽपवर्गनिबन्धनस्तत्रास्तीति प्रसिद्धो हेतुः। नो नाम संवेदनादयो यथा नरे प्रकर्षपर्यन्तप्राप्ता मानतः प्रतीयन्ते तथा नारीषु अन्यथा नपुंसकेऽपि तथास्युः। एवं चास्याप्यपवर्गप्रसङ्गः। चारित्रं तु तन्निबन्धनं वनितानामसंभाव्यमेव। तथाहि योषितां न संयमोऽपवर्गनिबन्धनो नियमेव ऋद्धिविशेषा निबन्धनत्वान्यथानुपपत्तेः। यत्र हि संयमः सांसारिकलब्धीनामप्यहेतुस्तत्रासौ कथं निखिलकर्म्मविनाशस्वभावापवर्गहेतुः स्यात्। नियमेन वनितानामेव ऋद्धिविशेषनिबन्धनः संयमो नेष्यते नतु पुंसां। यदि हि नियमेन लब्धिविशेषाजनकः संयमः क्वचिदन्यत्राविवादमंदिरेऽपवर्गनिबंधनः सिद्ध्येत तदा तन्निदर्शनवशेनात्राप्यसौ तथा प्रत्येतुं शक्यतेनान्यथातिप्रसङ्गात्। संयममात्रं तु सदपि वनितानां न तान्नबन्धनं तिर्यग्गृहस्थसंयमवत्। सवास.संयमत्वाच्च नासौ तद्धेतुर्गृहस्थ सयमवत्। नचायमसिद्धो हेतुः। नहि वनितानामवस्त्रः संयम उपलब्धः प्रवचनप्रतिपादितो वा। न चागमाभावेऽप्यपवर्ग सुखाकाक्षया वनितानां सिचयत्यागो युक्तोऽर्हत्प्रोक्तागमोल्लङ्घनेन मिथ्यात्वानुगमनानुषङ्गात्। यदि पुनः पुंसामवस्त्रोऽसौ तन्निबन्धनो वनितानां सवस्त्रस्तर्हि

साधनभेदादपवर्गस्यापि भेदापत्तिरनुषज्येत स्वर्गादिवत् । श्रावकसंयमानुवर्तिनोऽपि मोक्षप्राप्तेः । एवं च लिङ्गादानमयुक्तं स्यात् । तथास्मादप्यनुमानान्नापवर्गसुखसङ्गिन्योऽङ्गनाः । तथाहि नाङ्गनापवर्गीयसंयमसङ्गिनी मुनिवन्दनायोग्यत्वाद् गृहस्थवत् । नचासिद्धं साधनमागमतस्तत्प्रसिद्धेः । तदुक्तम्—[1]'वर्षशतदीक्षितयाप्यादीक्षितया प्राद्यदीक्षितः साधुः । स्तवनाभिगमननमनैः परिपूज्योऽसौ तया नूनम्' । इत्यभिधानात् । तथा वहिरङ्गान्तरङ्गपरिग्रहवत्त्वाच्च न नार्योमुक्तिमन्त्यो गृहस्थवत् । नचायमसिद्धो हेतुः प्रत्यक्षनिर्णीतो हि सिचयादानादिर्बाह्यपरिग्रहोऽन्तरङ्गस्वशरीरानुरागादि परिग्रहमनुमापयति[2] । तथा च न जिनादयोऽपवर्गसङ्गिनस्तत्कथयितारो वा भवेयुः किंतु सचेला गृहस्था एव मुक्तिसङ्गिनः स्यु । नचाचेलत्वं नेष्यते '[3]आचेलक्योद्देशिकशय्यागृहराजभोजकृतिकर्म्मोत्पादः पुंसां प्रतिछेद—इति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये तदुपदेशात् । किञ्च, उपात्तेऽपि सिचये जीवव्यथा तदवस्थैव, तेनावृत्तहस्तपादप्रदेशोष्मभावेन तद्धिंसा परिहारायोगात् । वाससः लिक्षाद्यनेकजीवाविर्भावाधारत्वाच्च तथा विधस्याप्यस्यादाने कचलुंचनादिक्रिया व्यर्थैव भवेत् । वसनाक्षेपप्रतिक्षेपोत्पन्नपवनेनाङ्गानाङ्गप्रदेशस्थितजीवव्यथनाच्च व्यजनादिव भवेत् । किंचैवमनेकजन्तुजातोपघातनिषेधार्थं विहारप्रतिबन्धोऽस्तु वसनादानवदविशेषात् । यथा यज्ञाचारः पशुहिंसाहेतुना पाप निबन्धनत्वात्त्याज्य एव तथा वसनमप्यविशेषात् । एतेन संयमोपध्यर्थं तदित्यपि निरस्तम् ।

---

१ वरिससयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू । अभिगमणवंदणणमसण विणएण सो पुज्जो ।। (प्रमेय० मार्तण्ड)

२ अत्र निम्नाङ्कित पाठस्त्रुटितोभाति—न च शरीरोष्मणा वातकायिकादिजन्तूपघातनिवारणार्थं स्वशरीररागाद्यभावेऽप्यसावुपादीयते इत्यभिधेयम्, पुंसामाचेलक्यव्रतस्य हिंसात्वानुषङ्गात् ।

३. 'आचेलक्कुद्देसिय सेज्जाहर रायपिंड किदिकम्म' •

किञ्च बहिरङ्गान्तरङ्गपरिग्रहपरित्यागः संयमः सच प्रार्थनसीवनप्रक्षालन-शोषनिक्षेपादानमलिम्लुचापहारादिमनः संक्षोभहेतौ वसने स्वीकृते कथं भवेत्। प्रत्युत वञ्चच्चारित्र व्याघातकार्ये तद् भवेत् बाह्याभ्यन्तरनैर्ग्र-न्थ्यप्रतिबन्धत्वात्। किञ्च "ह्री शीतार्त्तिनिवृत्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते। कामिन्यादिस्तथा किन्न कामदुःखादिशान्तये ॥ येन येन बिना दुःखं पुंसां समुपजायते। किं तत्सर्वमुपादेयं लावकादि पलादिकम् ॥ वस्त्रभागे गृहीतेऽपि विरक्तो यदि तत्त्वतः। स्त्रीमात्रेऽपि तथा किन्न तुल्याक्षेपसमाधितः ॥ स्त्रीपरीषहभग्नैश्च बद्धरागैश्च विग्रहे वस्त्रमादीयते यस्मात्सिद्धं ग्रन्थद्वयं-ततः ॥" न च स्वीकृतेऽपि वस्त्रे ममेदं भावस्याभावात् तदास्ते। विरोधनात्। मनीषापूर्वकं हि स येन (हस्तेन) निपतितं वसनमादाय परिदधानोऽपि मूर्च्छाविरत इति कः सचेतनः श्रद्दधीत। तन्वङ्गीपरिष्वङ्गसङ्गिनोऽपि तद्रहि-तत्वप्रसङ्गात्। ततो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहादानान्नैर्ग्रन्थद्वयापायान्न वनि-तानामपवर्गः। सहि बहिरङ्गान्तरङ्गसाधनोत्पाद्यःकार्यत्वान्माषपाकादिवत्। तच्च बहिरङ्गान्तरङ्गसाधनं नैष्किञ्चन्यं तदभावे कथ स्यादित्यन्यहेतोर-सिद्धेर्नानुमानाद्वनितापवर्गसिद्धिः। नाप्यागमात्, तदपवर्गप्रतिपादकस्या-गमस्याभावात्। [1]'नरवेदमनुभवन्तो ये पुरुषाः क्षपकतामनुप्राप्ताः। शेषोदयेनापि तथा ध्याननियुक्ता (हि) सिध्यन्ति' ॥ इत्यादेरप्यागमस्य वनितापवर्गाभिधानकत्वाभावः। स हि पुरुषवेदोदयवच्छेषवेदोदयेनापि पुंसामेवापवर्गवेदकः। उभयत्रापि पुरुष इत्यभिसम्बन्धात् उदयश्च भावस्यैव। द्रव्यवनितान्यथानुपपत्तेश्चतासां न मुक्तिः। आगमे हि जघन्येन सप्ताष्टभिर्भवै रुत्कर्षेण द्वित्रैर्भवैर्जीवस्य रत्नत्रयाराधकस्यापवर्गोऽभि-हिताः। यदा चास्य सम्यग्दर्शनाराधकत्वं तत्प्रभृति सर्वासु स्त्रीषूत्पत्तिरेव न भवतीति कथं वनितानामपवर्गसिद्धिः। ततो नास्ति वनितानामपवर्गो नरादन्यत्वान्नपुंसकवत्, अन्यथास्याप्यसौ स्यात्। तथास्मादप्यनुमानान्न

---

१. पु वेद वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥ प्र मा.

तासां मुक्तिसिद्धि स्तथाहि न हि वनितानामपवर्गोऽस्ति असामान्य-ध्यानफलत्वात् सप्तम नरकगमनवदिति। ततोऽनन्तज्ञानाद्यात्मलाभस्वभावो मोक्षः पुरुषस्यैवेतिप्रेक्षादक्षैर्लक्षितव्य इति। सांशयिक मिथ्यात्वतमस्तिरस्कृतयथार्थदर्शन श्वेतवाससमुत्सृज्य नान्यः प्रेक्षावानङ्गनानामपवर्ग संगति संगिरते। यासां हि संयमलाभेऽप्यच्युतपतित्वमेव संपनीपद्यते नोत्तरेष्वहमिन्द्रत्वमिति न ललनानां मोक्षलक्ष्मीसमागमो युक्तिसङ्गतिमङ्गतीति व्याख्यातवृत्ततात्पर्यार्थः ।। २६ ।।

आगे श्वेताम्बर समत स्त्री-मुक्ति का खण्डन करते है—

हे भगवन्! जिसका ज्ञान सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से उपद्रुत नही है ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य श्रद्धान करेगा कि स्त्रिया भी आपका पद—मोक्षपद प्राप्त करने के योग्य है। जिन दीक्षा से युक्त स्त्रीजनो मे सयम का लाभ होने पर यदि कोई पद होता है तो उत्कृष्ट अमर पद—इन्द्र पद ही प्राप्त होता है। नपुसक और स्त्रियो का स्थान उत्तर विमानो मे —सोलहवे स्वर्ग के आगे विमानो मे नही होता। यही नही, पाप की समानता होने पर भी नपुसक और स्त्रिया मनुष्य के समान सातवे नरक मे स्थान नही प्राप्त कर सकती।

विशेषार्थ— स्त्रिया भी हमारे मत की ओर आकर्षित रहे इस उद्देश्य को लेकर श्वेताम्बर लोग स्त्री शरीर से साक्षात् मोक्ष होता है ऐसा निरुपण करते है और इसका समर्थन करने के लिये निम्नलिखित अनुमान प्रदर्शित करते है—

प्रश्न—'स्त्री को भी मोक्ष होता है, समग्र साधन होने से पुरुष के समान' अर्थात् जिस प्रकार साधनो की पूर्णता होने से

पुरुष को मोक्ष होता है उसी प्रकार साधनों की पूर्णता होने से स्त्री को भी मोक्ष होता है ?

उत्तर—यह ठीक नही है क्योकि इस विषय की सिद्धि की लिये जो समग्र साधनत्व हेतु दिया है वह असिद्ध है। मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञानादि गुणो मे परम प्रकर्षता–सर्वोत्कृष्ट अवस्था—केवल ज्ञानादि रूप दशा का प्रकट होना कारण है जो कि स्त्रियो के सम्भव नहीं है। जिस प्रकार स्त्रियो के महातमप्रभा नामक सप्तम पृथिवी मे उत्पन्न कराने योग्य पाप की उत्कृष्ट दशा नही हो पाती उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त कराने वाले ज्ञानादि गुणो की उत्कृष्ट दशा नही हो पाती और उसके न होने से साधन मे समग्रता सिद्ध नही हो पाती।

प्रश्न—यदि स्त्री के सप्तम पृथिवी मे जन्म प्राप्त कराने मे कारणभूत पाप की प्रकर्षता का अभाव है तो इसमे मोक्ष की प्राप्ति के कारण भूत रत्नत्रय की प्रकर्षता का अभाव होने मे क्या बात आ जाती है ? यदि इन दोनो मे साध्य-साधन अथवा व्याप्य-व्यापक भाव होता तो ऐसा कहना उचित भी होता परतु यहाँ ऐसा कोई साध्य-साधन अथवा व्याप्य-व्यापकभाव नही है अत उक्त बात का मानना सगत नही है। यदि बलात् यह बात रखना ही इष्ट है कि एक के अभाव मे दूसरे का भी अभाव होता है तो यह भी रखा जा सकता है कि यत. खरगोश के सीग का अभाव है अत· सभी पदार्थो का अभाव है ?

उत्तर—आपका कहना ठीक है परन्तु यह नियम है कि जिस वेद मे मोक्ष प्राप्ति मे कारणभूत रत्नत्रय का परमप्रकर्ष

होता है उस वेद मे सप्तम नरक मे कारणभूत पाप का भी परमप्रकर्ष होता है जैसा कि पुरुष वेद के होता है। स्त्री वेद के यह विशेषता नही अत स्त्री वेद का धारी जीव मोक्ष नही जा सकता. यह बात सिद्ध होती है।

प्रश्न–इस कथन मे चरम शरीर के साथ दोष आता है क्योकि चरम शरीर मे मोक्ष प्राप्त करने की सामर्थ्य होने पर भी सप्तम नरक प्राप्त करने की सामर्थ्य नही है ?

उत्तर—उक्त कथन सामान्य पुरुष वेद की अपेक्षा है। अन्य प्रकार से उक्त नियम सभव नही है। अथवा उक्त अनुमान में सप्तम पृथिवी की प्राप्ति मे कारणभूत पाप की परम प्रकर्षता के अभाव रूप हेतु से स्त्रियो मे मोक्ष प्राप्ति मे कारण भूत रत्नत्रय की परम प्रकर्षता का अभाव सिद्ध नही किया जा रहा है किन्तु यह सिद्ध किया जा रहा है कि स्त्रियो मे किसी भी वस्तु का परम प्रकर्ष नही होता। ऐसा मानने मे दोष भी नही है।

प्रश्न—दोष क्यो नही है ? स्त्रियो मे माया की परम प्रकर्षता तो पाई जाती है ?

उत्तर—नही, आगम में यह बताया है कि स्त्रियो में माया की बहुलता है, यह नही बताया कि उनके माया की परम प्रकर्षता होती है। यदि माया की परम प्रकर्षता होती तो पुरुष के समान वे भी सप्तम नरक मे उत्पन्न होती। अथवा माया को छोड़ कर अन्य वस्तुओ की स्त्रियो मे परम प्रकर्षता नही होती. .ऐसा विशेषण-परक अर्थ लगाने से कोई दोष नही रह

जाता। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार ज्ञानादि-गुण पुरुष मे परम प्रकर्षता को प्राप्त होते हैं उस प्रकार स्त्रियो मे नही। अन्यथा नपुसकों मे भी उनका परम-प्रकर्ष मानना पडेगा जिससे उनके भी मोक्ष का प्रसङ्ग आ जावेगा। इसके सिवाय स्त्रियों के ऐसा चारित्र भी तो नही होता जो मोक्ष का कारण माना जा सके। स्त्रियो के जो चारित्र होता है उससे उनके किसी ऋद्धि की उत्पत्ति नही होती अत यह कहा जा सकता है कि जो चारित्र अथवा संयम सासारिक लब्धियो का भी कारण नही है वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकेगा ? यह बात स्त्रियो के ही है पुरुषो के नही। पुरुषो का सयम अनेक ऋद्धियो का कारण है। यदि कही ऐसा उदाहरण मिलता कि जो सयम ऋद्धि विशेष का कारण नही है वह भी मुक्ति का कारण होता है तो यह बात स्त्रियो मे भी मान ली जाती। यद्यपि स्त्रियो के सामान्य सयम है परन्तु वह तिर्यञ्च अथवा गृहस्थ मनुष्य के सयम के समान मुक्ति का साधन नही है। इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि स्त्रियो का सयम वस्त्र सहित होता है अतः वह गृहस्थ पुरुष के सयम के समान मुक्ति का कारण नही है। स्त्रियो के वस्त्र-रहित सयम न देखा गया है और न ही आगम में उसका उल्लेख है। आगम मे उल्लेख न होने पर भी मोक्ष सुख की इच्छा से स्त्रिया वस्त्र का त्याग कर दे यह कहना उचित नही है क्योकि जिनेन्द्र प्रणीत आगम का उल्लंघन कर अन्यथा प्रवृत्ति करने से मिथ्यात्व का प्रसंग आ जावेगा। यदि ऐसा माना जाय कि पुरुषों का वस्त्र

रहित सयम मोक्ष का कारण है और स्त्रियो का वस्त्र सहित। तो यह मानना भी ठीक नही, क्योकि साधन मे भेद होने से साध्य मे भी भेद हो जावेगा, जैसा कि स्वर्गादि में भेद होता है। और जब वस्त्र रखने हुए स्त्रियो को मोक्ष हो जाता है तो वस्त्र रखने वाले श्रावको ने क्या अपराध किया ? उन्हे भी मोक्ष हो जाना चाहिये। इस प्रकार निर्ग्रन्थ लिङ्ग का धारण करना व्यर्थ सिद्ध हो जावेगा।

इसके सिवाय निम्नाङ्कित अनुमान से भी स्त्रियो के मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है। 'स्त्रियो के मोक्ष प्राप्त कराने वाला सयम नही होता, क्योकि वे मुनियो द्वारा वदना करने के अयोग्य है, गृहस्थ के समान'। यह साधन असिद्ध नही है क्योकि आगम से इसकी सिद्धि होती है। आगम मे लिखा है कि आज का दीक्षित साधु सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका के द्वारा स्तवन, समुख-गमन और नमस्कार आदि से पूज्य है। अत स्त्रियाँ बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनो परिग्रहो से युक्त है अतः उनके मोक्ष नही होता। यहाँ हेतु असिद्ध नही है, क्योकि वस्त्रादि बाह्य परिग्रह तो प्रत्यक्ष ही दिख रहा है वही शरीर सम्बन्धी अनुराग आदि अन्तरङ्ग परिग्रह का भी अनुमान करा देता है। यदि यह कहा जावे कि शरीर की गर्मी से वायु-कायिक आदि जीवो का विघात न हो इस अभिप्राय से स्वशरीर-सम्बन्धी राग न होनेपर भी वस्त्र का ग्रहण होता है तो यह कहना ठीक नही क्योकि इससे वस्त्र का त्याग करने वाले मुनियों के हिसा का प्रसङ्ग आ जावेगा। उनके शरीर की गर्मी से भी तो वायु-

कायिक आदि जीवो का विघात सम्भव है और ऐसी दशा मे नग्न रहने वाले अर्हन्त भगवान् भी मोक्ष प्राप्त न कर सकेंगे और न उसका उपदेश भी। स्वस्थ गृहस्थ ही अहिसक कहलावेंगे और वे ही मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे। यदि यह कहा जावे कि 'मुनि वस्त्र रहित होते हैं' यह हम नही मानते तो यह कहना ठीक नही क्योकि आगम मे जो दस प्रकार के कल्प बतलाये है उनमे वस्त्र रहित मुनि का उपदेश दिया गया है। दूसरी विचारणीय बात यह है कि वस्त्र ग्रहण करने पर भी साधु हिसा के दोष से बच नही सकते क्योकि जिन पर वस्त्र का आवरण नही ऐसे हस्तापादादि अवयवो की गर्मी से जीव हिसा होती ही रहेगी। वस्त्र मे भी यूकादि सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होने लगेंगे जिनकी हिसा का बचाना असम्भव होगा। मस्तक तथा स्कन्ध आदि अवयवो से वस्त्र जब नीचे खिसक जावेगा तब उसे ऊपर उठाकर ठीक करना पडेगा और ऐसा करने से वायुकायिक जीवो का भी विघात होगा। यही क्यो, अनेक जीवो के विघात का कारण होने से मुनियो के बिहार की भी रुकावट हो जावेगी। जिस प्रकार पाप का कारण होने से पशु-हिसा-जन्य यज्ञ छोडने योग्य है उसी प्रकार वस्त्र भी छोडने योग्य कहलावेगा। मयूरपिच्छ के समान वस्त्र भी सयम का उपकरण है अत उसके धारण करने मे दोष नही होना चाहिये ऐसा किन्ही का कहना है सो इसका भी उक्त उल्लेख से निराकरण हो जाता है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना सयम कहलाता है। जीर्ण हो जाने पर नये

वस्त्र की याचना करना अथवा सुई धागा से सीना, धोना, सुखाना, उठाना और चोरो के द्वारा चुराया जाना आदि कारणो से मन मे क्षोभ उत्पन्न होता है तथा इसका मूल कारण वस्त्र है, तब वस्त्र सयम का उपकरण कैसे माना जा सकता है। सयम का उपकरण तो दूर रहा वह उल्टा असयम का उपकरण हो जाता है। यदि यह कहा जावे कि लज्जा तथा शीत आदि की पीडा दूर करने के लिये वस्त्र ग्रहण किया जाता है तो फिर काम का दु ख दूर करने के लिये स्त्री आदि का ग्रहण कर लेना उचित है। यही क्यो ? जिस-जिस वस्तु के बिना पुरुषो को दु ख होता है वह सभी उपादेय क्यो नही होना चाहिए जैसे कि लावकादि पक्षियो का मासादि भी। यहा यह कहा जावे कि वस्त्र का अश ग्रहण करने पर भी यथार्थ मे विरक्त रहा जा सकता है परन्तु स्त्री के ग्रहण करने पर विरक्त नही रहा जा सकता तो यह कहना ठीक नही, क्योकि स्त्री के विषय मे भी यह आक्षेप और समाधान दिया जा सकता है। स्त्री के रहते हुए भी पुरुष विरक्त रह सकता है ऐसा मानने मे क्या आपत्ति है ? अरे ! स्पष्ट बात तो यह है कि जो स्त्री परिषह के जीतने मे कातर है और शरीर से जिनका राग नही छूटा है वे ही वस्त्र को ग्रहण करते है। इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि जहाँ वस्त्र है वही दोनो परिग्रह विद्यमान है और परिग्रह के रहते हुए सयमी कहलाना पूर्ण विडम्बना है। यदि यह कहा जाय कि परिग्रह का लक्षण तो ममेदभाव—यह मेरा है, इस प्रकार का परिणाम है। जिस प्रकार मयूरपिच्छ

और कमण्डलु रखते हुए भी उनमे ममेदभाव नही होने से मुनि परिग्रही नही कहलाते उसी प्रकार वस्त्र के रहते हुए भी ममेद-भाव का अभाव होने से मुनि परिग्रही नही कहला सकता ? तो यह कहना ठीक नही, क्योकि ममेदभाव के बिना वस्त्र का सद्भाव हो ही नही सकता। यदि वस्त्र नीचे खिसक जाता है या गिर जाता है तो उसे हाथ से उठाकर पुन यथास्थान धारण किया जाता है। यह सब क्रिया ममेदभाव के बिना ही होती है ऐसा कौन सचेतन विश्वास करेगा। अन्यथा स्त्री का आलिङ्गन आदि करने पर भी पुरुष का उसमे ममेदभाव नही कहलावेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्त्र के सद्भाव मे बाह्य और आभ्यन्तर दोनो परिग्रह विद्यमान रहते है अत स्त्रियो के मोक्ष नही हो सकता। जिस प्रकार उडद का पाक बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनो साधनो पर अवलम्बित है उसी प्रकार मोक्ष भी बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनो साधनो पर अवलम्बित है। निष्परिग्रहता ही मोक्ष का वहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधन है स्त्री के इन दोनो का अभाव है अत. मोक्ष नही हो सकता।

इसके सिवाय आगम मे भी कही ऐसा उल्लेख नही मिलता जिसमे कि स्त्री को मोक्ष होना बतलाया हो।

प्रश्न—आगम मे यह तो स्पष्ट लिखा है कि 'पुरुष वेद का अनुभव करते हुए पुरुष क्षपक श्रेणी को प्राप्त हो सिद्ध होते है अन्य वेदो—स्त्री तथा नपुसक वेदो का भी अनुभव करने वाले पुरुष ध्यान मे लीन होकर सिद्ध हो जाते है।' इस आगम मे स्त्री

वेदी तथा नपुसक वेदी को भी मोक्ष होना बतलाया है फिर कैसे कहा जाता है कि आगम मे स्त्री मुक्ति का उल्लेख नही है ?

उत्तर—आगम वाक्य का आप गलत अर्थ लगा रहे है। उसका सही अर्थ यह है कि जो पुरुष, पुरुष-वेद का अनुभव करते हुए क्षपक-श्रेणी पर आरूढ होते है वे मुक्ति को प्राप्त होते है साथ ही अन्य वेदो—स्त्री और नपुसक वेदो का भी अनुभव करने वाले पुरुष ध्यान मे निमग्न हो मुक्ति को प्राप्त होते है। यहाँ दोनो ही स्थलो मे 'पुरुषा' इस पद का सम्बन्ध लगाना चाहिये। कर्मभूमिज मनुष्य के बाह्य मे पुरुष होने पर भी अन्तरङ्ग मे स्त्री अथवा नपुसक वेद का उदय हो सकता है ऐसे जीव यदि क्षपक-श्रेणी पर आरूढ होकर ध्यान निमग्न हो जाते है तो मोक्ष प्राप्त कर लेते है। उक्त आगम मे यह तो नही लिखा कि स्त्री अथवा नपुसक वेद का अनुभव करने वाली स्त्री ध्यान निमग्न हो मुक्त हो जाती है। आगम मे ऐसा लिखा है कि जो यथार्थ रूप से (करणानुयोग की पद्धति से) रत्नत्रय की आराधना करता है वह जघन्य रूप से सात आठ भवो मे और उत्कृष्ट रूप से दो तीन भवो मे मुक्ति प्राप्त कर लेता है। फिर जब से यह जीव सम्यग्दर्शन की आराधना करता है तब से इसका स्त्रियो मे जन्म ही नही होता है। सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी गति की स्त्रियो मे उत्पन्न नही होता यह बात आगम मे सर्वत्र उपलब्ध है। जब कि सम्यग्दृष्टि-जीव का स्त्रियो मे जन्म ही नही होता तब स्त्री को मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा कहना कैसे सगत हो सकता है।

स्त्री की मुक्ति नही होती इस विषय मे एक अनुमान यह भी हो सकता है कि यत मोक्ष विशिष्ट ध्यान का फल है अतः स्त्री को मोक्ष नही हो सकता। जिस प्रकार कि स्त्री के सप्तम नरक मे ले जाने वाला विशिष्ट अशुभ—रौद्रध्यान नही होता उसी प्रकार उसके मोक्ष प्राप्त कराने वाला विशिष्ट शुभध्यान—शुक्लध्यान भी नही हो सकता। इस सब कथन का सारांश यह है कि स्त्रिया अधिक से अधिक तपश्चरण करने पर भी सोलहवे स्वर्ग से आगे नही जा सकती और अधिक से अधिक पाप करके भी छठवे नरक से नीचे नही जा सकती। श्वेताम्बर मतानुयायी को छोड कर अन्य कोई बुद्धिमान स्त्री को मोक्ष होता है ऐसा निरूपण नही करते। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए सस्कृत टीकाकार ने आचार्य प्रभाचन्द्र के प्रमेय-कमल-मार्तण्ड का आश्रय लेकर स्त्री मुक्ति खण्डन का विशद विवेचन किया है। सस्कृत टीका और प्रमेय-कमल-मार्तण्ड का आश्रय लेकर इस विशेषार्थ मे मैने भी उक्त विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है ॥२६॥

जरूथमन्थरप्रमथ सार्थकदर्थ्यमानभृङ्गिप्रमुख गणनाथप्रविततती्र्थोपासनमनोरथेडेहागडडकप्रवाहप्रतोषित भृङ्गानीपतीन् भौतिकेन्द्रियवादमदमेदुरवदनप्राप्ततमुण्डमुण्डलभसितपाण्डुपिण्डतपस्विनः करतलकलितकुवलफलवदखिलं त्रिकालत्रिलोकविषयं वस्तुकदम्बकं केवलज्ञानेन साक्षात्कलयति केवलिनि वीतरागे व्यजनवैजयन्तीविततसितातपत्रत्रयादिकं किमपि नास्तीति विवदमानान् निराकुर्वाणा भक्तिप्राग्भारप्रह्वामरेन्द्रादिदेवसंदोहोपरचितगन्धकुटयाद्यष्टमहाप्रातिहार्यान्तं प्राज्यसाम्राज्यसुखं तन्नास्तीत्युपदर्शयन्तः पौष्पीवृष्टीत्यादिना नन्दन्ति सूरयः—

पौष्पी वृष्टिः प्रभाणां वलयमसदृशं दुन्दुभीनां निनाद-
स्त्रीणिच्छत्राण्यशोको द्युतरुरुभयतश्चामराणां प्रचारः ।
उक्तिश्चित्राभिधेये हरिभिरभिधृतं पीठमत्यद्भुतार्था
लक्ष्मीरन्यापि शक्रः परिचरति मुदा देवसाम्राज्यमेतत् ॥ ३० ॥

परिचरति करोति । कः ? शक्रः शचीपति. । किम् ? देवसाम्राज्य देवैः कृत देवस्य वा साम्राज्य सम्राटत्वम् । किभूतम् ? एतत् प्रत्यक्षी भूतम्। कया ? मुद्रा हर्षेण। यत्र किम् ? भवति। का वृष्टिर्वर्षण प्रकिरः । किम्भूता ? पौष्पी मन्दारकुन्दकुवलयकोकनदपुष्पाणामियम् । तथा किम् ? वलयम् । कासाम् ? प्रभाणाम् तेजसाम् । किभूतम् ? असदृशमद्विती-यम् । मुहुः कः ? निनादोध्वनिः । केषाम् ? दुन्दुभीना सार्धद्वादशकोटी-वाद्यानाम् । पुनः कानि ? छत्राणि । कतिसख्योपेतानि ? त्रीणी । तथा कः ? अशोकः कङ्केलिः । तथा द्युतरुः देव वृक्षः । तथा कः ? प्रचारः प्रवृत्तिः । केषाम् ? चामराणा चतु.षष्टिप्रकीर्णकानाम् । कथम् ? उभयतो द्वारोभयपार्श्वे । तथा का ? उक्तिः सर्वाङ्गीणोध्वनिविशेष । क्व ? चित्राभिधेये नानाप्रतिपाद्ये । तथा किम् ? पीठं मतल्लिका । किभूतम् ? अभिधृतमूढम् । कैः ? हरिभिः सिहैः । तथा का ? लक्ष्मीः । किभूता ? अन्याप्यपरापि । भूयः किभूता ? अत्यद्भुता साश्चर्यप्रयोजना । अयत्न-रत्नचयचूर्णधूलीसालामलकोपलचञ्चच्चन्द्रकान्ताद्यनेक माणिक्यप्राका-रान्त स्थितनानानाट्यशाला नटल्लटहदेवाङ्गनापाङ्गसंगलत्कुतूहल निलिम्पसंकुलामानमानमेरु मूलोन्मूल नवलालमानस्तम्भचतुष्टयोपशोभि प्रसूनसौरभभ्रमरभामिनीमञ्जुगुञ्जच्चन्दनचम्पकाद्यशोकाद्यनेकानोकहोद्यान बल्लीवनखातिकापरिक्षिप्तमालाध्वजादिकदलीसन्तान पद्मरागपुष्परागा-नेकरत्नस्तूपेन्द्रनीलप्रवाल मुक्ताफलोपकल्पिततोरणोच्छलन्नानाभीषु-सन्तानसंपादिताकाशपितान समवसरणं कनककमलप्रचारं भक्तिप्रणत-मौलिराखण्डलः स्वयमित्थं देवसाम्राज्यं विदधातीति प्रणीतवृत्त-सहत्यर्थः ॥ ३० ॥

आगे द्वितीय शुक्लध्यान के फलस्वरूप प्राप्त हुए अष्ट प्रातिहार्यो का वर्णन करते है—

'पुष्प वृष्टि, अनुपम भामण्डल, दुन्दुभियो का शब्द, छत्रत्रय, देवनिर्मित अशोक वृक्ष, चामरो का प्रचार, विविध पदार्थो का निरूपण करने वाली दिव्य-ध्वनि, सिहो के द्वारा धारण किया हुआ आसन, आश्चर्यकारी अद्भुत लक्ष्मी और बडे हर्ष के साथ इन्द्र द्वारा परिचर्या का किया जाना, हे भगवन् ! यह सब आपका साम्राज्य है' ।

विशेषार्थ—कर्मो की १४८ प्रकृतियों मे तीर्थकर प्रकृति सर्वश्रेष्ठ प्रकृति है । शुक्लध्यान के द्वितीय भेद के प्रभाव से ६३ प्रकृतियो का क्षयकर जब तीर्थकर भगवान् तेरहवे गुण-स्थान मे पहुँचते है तब उनके तीर्थकर प्रकृति का उदय शुरू होता है । उसके प्रभाव से समवसरण मे देवो द्वारा अष्ट प्राति-हार्यरूप महाविभूति प्रकट हो जाती है । विस्तृत समवसरण के मध्य गन्धकुटी मे जिनेन्द्रदेव अन्तरीक्ष विराजमान रहते है। देवनिर्मित रत्नमयी सिहासन होता है, उस पर कमल की रचना होती है, उस कमल के चार अगुल ऊपर अन्तरीक्ष मे श्री जिनेन्द्र देव विराजमान रहते है, उस सिहासन के पाद, सिहो के द्वारा धारण किये हुए होते है, पास ही अशोक वृक्ष होता है । इसके विषय मे अन्यत्र ऐसा लिखा मिलता है कि भगवान् को जिस वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान उत्पन्न होता है समवसरण मे वही अशोक वृक्ष कहलाता है अर्थात् उसी वृक्ष के आकार का देव-निर्मित वृक्ष भगवान के सिहासन के समीपस्थ होता है। भगवान्

के पीछे अनुपम भामण्डल होता है उस भामण्डल का ऐसा विचित्र प्रभाव होता है कि उसमे दर्शको को अपने सात सात भव दिखते है। देवो के द्वारा, मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षो के पुष्पो की वर्षा होती है। साढे बारह करोड दुन्दुभियो का मनोहर शब्द होता है। भगवान् के सिर पर छत्रत्रय शोभा देते है। यक्ष चौसठ चमर ढारते है। नाना पदार्थों को निरूपण करनेवाली दिव्यध्वनि प्रकट होती है। इसका ऐसा अतिशय होता है कि वह उद्गम-स्थान से निरक्षर होने पर भी श्रोताओ के कर्ण कुहर तक पहुंचते-पहुचते साक्षर हो जाती है और सब श्रोता उसे अपनी-अपनी भाषा मे समझ जाते है। समवसरण की समग्र लक्ष्मी आश्चर्य उत्पन्न करती है। अधिक क्या कहा जाय, देवराज इन्द्र भी उस समवसरण मे सामान्य किङ्कर की तरह परिचर्या करता है। अर्हन्त जिनेन्द्र का साम्राज्य ऐसा अनुपम साम्राज्य है ॥३०॥

ननु निखिलावबोध साक्षात्कृतसकल ज्ञानज्ञेयध्यातव्य स्मरणीयार्थाभावान्नष्टमोहत्वाच्च विचित्रचिन्ताभावा द्विधेः पूर्वकत्वात्प्रतिषेधस्येत्येकचिन्तानिरोधलक्षणं ध्यानं भगवति न संभवतीति सामयिका विप्रतिपद्यन्ते तेषां विप्रतिपत्तिं परिजिहीर्षवो वदन्ति कर्मन्दिवृन्दारका ध्येय मित्यादि—

ध्येयं स्मार्य न किञ्चिद्भगवति निखिलाध्यक्षपक्षावसेये,
तत्रैतद्ध्यानमीहाऽसमकलुषतया तत्समत्वाय यापि।
तत्साम्ये तद्व्यपायावहसमयसमावेक्षणा वा मनीषा,
नो चेदात्म प्रदेशव्यसनसमसनारम्भणो वा प्रयत्नः ॥३१॥

नास्ति किम् ? ध्येयं ध्यानीयं तथा स्मार्यं स्मर्तव्यम्। किम् ? किञ्चिदपि वस्तु। क्व ? भगवति जिने। किंभूते ? निखिलाध्यक्षपक्षावसेये निखिल सकलमध्यक्षपक्षं प्रत्यक्षपक्षमवसेयं ज्ञातव्यं यस्य तस्मिन्। भवति। किम् ? ध्यानम्। क्व ? तत्र सर्वज्ञे। किम् ? एतत्प्रत्यक्षीभूतम्। का ? या ईहा चेष्टा प्रवृत्तिः। कस्मै ? तत्समत्वाय तेषामघातिकर्मणां समत्वं समस्थितिकत्वं तस्मै यावन्मात्रमेवायुः कर्म्म तावन्मात्रमेव नाम-गोत्र वेदनीय कर्माणि कर्तुमित्यर्थः। कया ? असमकलुषतया विषम स्थिति कर्मतया। पुनर्ध्यानम्। का ? मनीषा विज्ञानपरिणतिर्वा। किंभूता ? तद्व्यपायावहसमयसमावेक्षणा तेषामघाति कर्म्मणां व्यपायो विप्लोषः पृथक्करणमित्येकार्थः। तमावहति प्रापयति सचासौ समयः क्षणस्तस्य समावेक्षणमवलोकनं यस्याः साकस्मिन्नपि तत्साम्येऽपि। तेषां कर्मणां समस्थिति कत्वेऽपि। नो चेदथवा ध्यानम्। कः ? प्रयत्नो वा प्रयत्न एव। किं भूतम् ? आत्मप्रदेशव्यसनसमसनारम्भणः आत्मा जीवस्तस्य प्रदेशा जीवसश्लेष स्वभाव नामगोत्रवेदनीयपरिणामा स्तेषा व्यसनं दण्डादिरूपतमाक्षेपणं समसनं लोकप्रतररूपेणारोपणं तयो-रारम्भणं समानः सः। नहि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया ज्ञानानन्दाद्यनेकस्व-भावस्य परात्मनो ध्यानरूपतास्ति परं प्रामाणिकैः प्रमाणनयनिरूपण-प्रवणैः प्रत्यक्षादि प्रमाणैः परमात्मनि तथा तथा स्वाभाविकी परिणति परिच्छेद्य तत्तद्धानोपचरोपदेशः कृत इति व्याकृतवृत्तसंकलितार्थः ॥ ३१ ॥

आगे समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले केवली भगवान् के एकाग्रचिन्ता-निरोधरूप ध्यान किस प्रकार सम्भव है यह कहते है—

'समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले जिनेन्द्र भगवान् के यद्यपि ध्यान करने योग्य अथवा स्मरण करने के योग्य कोई पदार्थ नही है फिर भी उनके ध्यान होता है ऐसा व्यवहार है

और उस व्यवहार का कारण यह है कि किन्ही-किन्ही केवलियों के आयु कर्म की स्थिति कम और वेदनीय, नाम तथा गोत्र कर्म की स्थिति अधिक होती है। कर्मों की इस विषम स्थिति को सम करने के लिये केवली भगवान् की जो चेष्टा या प्रवृत्ति होती है उसे ध्यान कहते है। अथवा उन चारो अघातिया कर्मों की स्थिति की समानता होनेपर उनके क्षयकाल का अवलोकन करने वाली जो विज्ञानमय परिणति है उसे ध्यान कहते है। अथवा यदि इसे ध्यान नही माना जावे तो दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक-पूरण रूप समुद्घात के समय फैले हुए आत्म प्रदेशो को सकुचित करने के लिए केवली भगवान् का जो प्रयत्न होता है उसे ध्यान समझना चाहिए।

विशेषार्थ—किसी एक पदार्थ मे अन्तर्मुहूर्त के लिए ज्ञानोपयोग का स्थिर हो जाना ध्यान कहलाता है। ध्यान का यह लक्षण क्षायोपशमिक ज्ञान मे अच्छी तरह घटित हो जाता है क्योंकि यह क्रमवर्ती होता है, परन्तु केवलज्ञान तो एक साथ समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है। ऐसा कोई पदार्थ अवशिष्ट नही रहता जिसका कि उनके केवलज्ञान मे प्रत्यक्ष न हो रहा हो। ऐसी दशा मे इस प्रश्न का होना स्वाभाविक है कि केवली भगवान् के ध्यान किस प्रकार सम्भव है? आगम मे उनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरत-क्रिया-निवर्ती ये दो शुक्ल-ध्यान बतलाये भी है। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तेरहवे गुणस्थान मे होता है और व्युपरतक्रियानिवर्ती चौदहवे गुण-स्थान मे होता है। इसका समाधान इस प्रकार है कि मात्र ज्ञानोपयोग

की स्थिरता को ही ध्यान नही कहते किन्तु आत्मप्रदेशो की निष्कम्प दशा प्रकट होने को भी ध्यान कहते है। सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यान मे निष्कम्प दशा का प्रागभाव है और व्युपरत क्रियानिवर्ती मे उसकी पूर्णता है। किन्ही केवलियो की आयु कर्म की स्थिति अल्प रह जाती है और अवशिष्ट तीन अघातिया कर्मो की स्थिति अधिक होती है। अत उन अविशिष्ट तीन अघातिया कर्मो की स्थिति आयुकर्म के बराबर करने की उन्हे जो भी चेष्टा करनी पडती है उसे ध्यान कहा है। अब प्रश्न यह होता है कि जिन केवलियो के चारो अघातिया कर्मो की स्थिति समान है और इसीलिए जिन्हे समीकरण का प्रयत्न नही करना पडता है उनके ध्यान किस प्रकार सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि ऐसे केवलियो के अघातिया कर्मो के क्षयकाल का समवलोकन करनेवालो जो ज्ञानपरिणति है वही ध्यान कहलाती है अथवा आत्म-प्रदेशों के विस्तार को सकुचित करने के लिए केवलीभगवान् का जो प्रयत्न है वह ध्यान कहलाता है। इन उल्लिखित विवक्षाओं द्वारा केवली भगवान् मे ध्यान का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥३१॥

पूर्ववृत्तोदितव्यसनसमसनपदार्थमविदधानाः सकलतत्त्व शास्त्रगहनावगाह निर्णीताध्यात्मसाराः सारसारस्वतरसस्पन्दसार्द्रीकृतनिखलभुवनाभोगाः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तृतीयं शुक्लध्यानं व्याचिख्यासवोऽनूचानचक्रेश्वरा आयुषीत्यादि दध्वनन्ति—

आयुष्यन्तर्मुहूर्ते सति समयचतुष्कावधावेव काले,
कृत्वा दण्डं कपाटं प्रतरमथ जगत्पूरणं चाप्यसौ स्वम्।

संक्षिप्याघातिकर्माहितसदृशदशः पूर्वदेहप्रमाणः,,
सूक्ष्मैकाङ्गोऽन्ययोगप्रविगमकरणात्स्यात्सयोगी तृतीये ।३२।

स्याद्भवेत् । कः ? सयोगी सयोगिजिनः । किम्भूतः ? सूक्ष्मैकाङ्गः सूक्ष्मं सकलजगद्व्यापिस्वभावरचितमेकमद्वितीयमङ्गं कायो यस्य सः । कस्मात् ? अन्ययोगप्रविगमकरणात् । अन्यः परः सयोगः कर्म तस्य प्रविगमो विनाशस्तस्य करणं निर्व्वर्तन तस्मात् सर्ववाङ्मानसकाययोगं बादरं काययोगं च विहाय सूक्ष्मकाययोगमवलम्बत इत्यर्थः । क्व ? तृतीये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्याने । मुहुः किंभूतः ? अघातिकर्माहितसदृशदशः अघातिकर्म्मणां वेद्यायुर्नामगोत्राणामाहिता कृता सदृशदशा समावस्था येन सः । भूयः किंभूतः ? पूर्व्वदेहप्रमाणः समुत्पन्नकेवलज्ञान शरीरमात्र इत्यर्थः । किं कृत्वा ? संक्षिप्य क्षिप्त्वा । कम् ? स्वमघाति कर्माविष्टब्धात्मानम् । संक्षेपणमपि किम् ? कृत्वा । कृत्वा, किम् ? दण्ड दण्डाकारात्मप्रदेशं तथा कपाट कपाटाकारात्मप्रदेशं तथा प्रतरं पूर्व्वापर जगद् विभागाच्छादनं तथा अथ अहो जगत्पूरणं सकललोकपूरण । क्व ? आयुषि प्राणनि जीवितव्य इति यावत् । किंभूते ? अन्तर्मुहूर्ते द्विघटिका घटनकाले । कस्मिन् ? काले । किम्भूते ? समयचतुष्कावधानेव समयचतुष्टयपरिमाण एव । कस्मिन् ? समये दण्डाकारप्रदेशान्विन्यस्य तस्मिन्नेव संहृत्य पुनर्द्वितीये समये कपाटाकार विधान सहरणे विधाय । मुहुस्तृतीये प्रतराकारप्रदेशसर्जन—विसर्जन[1] च भूयश्चतुर्थसमये लोकपूरणकरणसंहारे च कृत्वेत्यर्थः । यदा पुनरन्तर्मुहुर्तशेषायुष्कस्ततोऽधिकस्थितिशेषकर्मव्ययो भवति योगी तदात्मोपयोगातिशयस्य सामायिकसहायस्य महासंवरस्यालघुकर्मपरिपाचनस्याशेषकर्मरेणपरिशातन शक्तिस्वाभाव्यदण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वा समुपहृतप्रदेशविसरणः समीकृतस्थितिशेषकर्मचतुष्टयपूर्व-

---

१ दृश त.

शरीरप्रमाणोभूत्वा च सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं ध्याय-तीति व्याख्यातवृत्तसमुदायार्थः ॥ ३२ ॥

आगे सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती शुक्लध्यान का वर्णन करते है—

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु के शेष रहने पर चार समयो मे जिन्होने अपने आपको दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण के रूप किया है तथा उतने ही समय मे अपने आत्मप्रदेशो को सकुचित कर जिन्होने पूर्व शरीर प्रमाण कर लिया है एव इस क्रिया से अघातिया कर्मो की स्थिति समान कर दी है ऐसे सयोग केवली भगवान् जिनेन्द्र तृतीय शुक्लध्यान के समय अन्य योगो का अभाव कर मात्र सूक्ष्म काय-योग को धारण करने वाले रह जाते है।

विशेषार्थ—आतम प्रदेशो के परिष्पन्द को योग कहते है। मानवात्मा मे यह परिष्पन्द मन वचन और शरीर सम्बन्धी क्रियाओ से होता है। यही तीन योग कहलाते है। मनुष्य के प्रारम्भ से लेकर बारहवे गुणस्थान तक तीनो योग होते है। नोइन्द्रियमतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से सज्ञी पचेन्द्रिय जीव के जो विचाराविचार शक्ति प्रगट होती है उसे भावमन कहते है। भावमन क्षायोपशमिक ज्ञान की परिणति है और यत बारहवे गुणस्थान के अन्त मे समग्र ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो चुकता है अत उसके आगे भावमन का व्यवहार नही होता। फलस्वरूप मनोयोग का वास्तविक सद्भाव बारहवें गुणस्थान तक ही होता है, हा द्रव्य मन की रचना तेरहवे

गुणस्थान मे भी बनी रहती है और उसके पोषण के लिये मनो-वर्गणा के परमाणुओ का आगमन भी होता रहता है इसलिये उपचार से तेरहवे गुणस्थान से भी उसका अस्तित्व होता है। तेरहवे गुणस्थान का उत्कृष्ट काल आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्तकम एक कोटी वर्ष पूर्व प्रमाण है। इस दीर्घ समय मे भगवान् का विहार तथा दिव्यध्वनि आदि के लोकोपयोगी कार्य होते रहते है। इस दीर्घकाल मे इनके ध्यान नही होता। वचनयोग और काययोग के द्वारा लोक कल्याण ही मे इनकी प्रवृत्ति होती है परन्तु जब अन्तर्मुहूर्त की आयु शेष रहती है तब वचनयोग नष्ट हो जाता है, दिव्यध्वनि आदि क्रियाये बद हो जाती है। उस समय यदि आयुकर्म की स्थिति अल्प और अवशिष्ट तीन अघातिया कर्मो की स्थिति अधिक होती हो तो समीकरण करने के लिये उनके आत्मप्रदेशों मे दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण रूप अवस्था होती है। इस अवस्था मे चार समय लगते है। पहले समय मे आत्मा के प्रदेश नीचे से लेकर लोकान्त तक दण्ड के आकार लम्बे हो जाते है। दूसरे समय मे कपाट के आकार चौडे हो जाते है तीसरे समय मे वातवलय को छोडकर समस्त लोक मे व्याप्त हो जाते है इसे प्रतर कहत है और चौथे समय मे वातवलयो मे भी व्याप्त हो जाते है इसे लोकपूर्ण कहते है। इस क्रिया से अवशिष्ट अघातिया कर्मो की स्थिति घट कर आयु के बराबर हो जाती है। फिर क्रम से चार समयो मे आत्मप्रदेशों को सकोचित कर चौथे समय मे पूर्वदेह प्रमाण हो जाते है। इस समय इनके मात्र काययोग रह जाता है वह

भी अत्यन्त सूक्ष्म । इसी समय सयोगकेवली जिनेन्द्र सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती नामका तृतीय शुक्लध्यान प्रकट करते है और पूर्व की अपेक्षा असख्यात गुणी निर्जरा करने लगते है। सयोगकेवली जिनेन्द्र के जो समुद्घात होता है वह इच्छापूर्वक नही होता क्योकि इच्छा का कारण मोहोदय है जोकि दशम गुणस्थान तक ही रहता है। यह सब प्रवृत्ति स्वयमेव हो जाती है और सब केवलियो को करनी पडती हो सो भी नही। जिनके अघाति-चतुष्क की स्थिति विषम होती है उन्ही के यह क्रिया होती है ॥३२॥

विगलन्निखिलशरीरवचनमनोयोगोच्छ्वासनिःश्वाससंसरणहरण-सकलप्रदेशपरिस्पंदाकरणसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानसम्बन्धोद्भूतसमीकृता-दघातिकर्म्मप्रतानस्वाभाविकदृग्ज्ञप्तिमुकुरप्रतिफलित लोकालोकज्ञेयायोगि-जिनः समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति (निर्वति) चतुर्थ शुक्लध्यानोपक्रमायो-पक्रमत इत्युपदर्शयन्त. सत्येत्याद्यनुशासति सूरयः—

सत्यात्मन्यात्मरूपे विरमति मरुति त्यक्तसङ्गेऽघयोगे,
क्षीणोल्लाघे क्रियौघे समधियति यथाख्यातचारित्रमत्र ।
प्रोन्मुक्ताशेषदोषे भवति कनकवत्प्रान्त शुक्लोपपन्ने,
मोक्षोऽयोगिन्यवश्यं यदविकलविधौ कारणे को बिलम्बः ॥३३॥

भवति । क. ? मोक्षो निखिल कर्माभावः । क्व ? अयोगिनि सर्वज्ञे । कथम् ? अवश्यं नियमेन । कुत ? यद्यस्मात् । को विलम्बः ? कि विल-म्बन न किमपीत्यर्थः । क्व ? कारणे हेतौ । किंभूते ? अविकलविधौ परिपूर्णतमे । क्व सति ? भवति । कस्मिन् ? आत्मनि परमात्मनि । किम्भूते ? आत्मरूपे चिदानन्दबोधाद्यनन्तचतुष्टय स्वभावे । मुहुः क्व ? विरमति विनश्यति । कस्मिन् ? मरुति वायौ प्राणापानपवन इत्यर्थः । पुनः क्व ? अघयोगे अघात्यघसम्बन्धिनि । किंभूते ? त्यक्तसङ्गे विश्लिष्टा-

त्मसंश्लेषे। भूयः क्व ? क्रियौघे क्रियासघाते। कि विशिष्टे ? क्षीणोल्लाघे विनष्ट उल्लाघः सामर्थ्यं (यस्य तस्मिन्) क्रियाकलापपरिष्पन्दशून्य इतियावत्। पुनः क्व ? समधियति सम्यगधिक गच्छति। किं ? यथाख्यातचारित्र चारित्रमोहस्य निरवशेषस्योपशमक्षयाच्चात्मस्वभावावस्थोपेक्षालक्षण। यथाख्यातचारित्रम्। अथवात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातचारित्रात्मसकल कर्म्मक्षय परिसमाप्तिर्भवतीति ज्ञाप्यते। क्व ? अत्रायोगिजिने। किम्भूते ? प्राप्तशुक्लोपपन्ने। अन्त्यव्युपरतक्रियानिवृत्ति (निर्वात) स्वभावसितध्यानाश्रिते। भूयः। किम्भूते ? प्रोन्मुक्ताशेषदोषे प्रकर्षेन्मुक्ता अशेषाः सर्वे दोषा द्रव्यभावकर्माणि। द्रव्यकर्माणि तत्र पुद्गलात्मकानि ज्ञानावरणादीन्यष्टौमूलप्रकृतिविशेषात्तथाष्टचत्वारिंशदुत्तरशतमुत्तरप्रकृतिभेदात्। भावकर्माणि चैतन्यात्मकानि क्रोधादीनि तत्र त्रिषष्टि द्रव्यकर्मप्रकृतीना सयोगकेवलिगुणस्थाने क्षयः प्रोक्तोऽन्यासा प्रकृतीनामयोगिगुणस्थाने क्षयोऽभिधीयते। यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीर नाम। तत्पञ्चविधमौदारिकवैक्रीयिकाहारकतैजसकार्म्मणशरीर नाम भेदात्। तदपि पञ्चप्रकारमौदारिकशरीरबन्धननामादिकम्। यदुदयादौदारिकादि शरीराणां। विवररहितान्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेनैकत्वापादनं भवति तत्सघातनाम। एतदपि पञ्चविकल्पमौदारिकशरीरसंघातनामाद्यादेशात्। यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवति तत्सस्थाननाम षोढा प्रविभज्यते। समचतुरस्रन्यग्रोधवल्मीककुब्जवामनहुण्डसंस्थाननामनिर्णयात्। देवगति देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वीनामेति। यदुदयादङ्गोपाङ्गनामविवेकस्तदङ्गोपाङ्गनाम। तत्त्रिविधमौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गनामेति। यस्योदयात्स्पर्शप्रादुर्भावस्तत्स्पर्श नाम। तदष्टविधं कर्क्कशमृदुगुरुलघुस्निग्धरूक्षशीतोष्णनाम चेति। यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषोभवति तत्संहनननाम। तत् षड्विधं वज्रर्षभनाराच वज्रनाराच नाराचार्द्धनाराचकीलिकासम्प्राप्तसृपाटिकानामेति पर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्ति नाम। यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रसनाम पञ्चविधं तिक्तकटुककषायाम्ल-

मधुरनामेति । यदुदयप्रभवोगन्धस्तद्गन्धनाम द्विविधं सुरभ्यसुरभिनामेति । यद्धेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम । तत्पञ्चविधं कृष्णनीललोहितपीतशुक्ल-वर्णनामेति । अपुण्यगुणख्यापनकारणमयशःकीर्तिनाम । यस्योदयादय-स्पिण्डवद्गुरुत्वान्नधः पतति न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघु-नाम । यस्योदयात्स्वयंकृतोद्बन्धनमुतातनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम । यन्निमित्त परशस्त्राभिघातस्तत्परधातनाम । यद्धेतुरुच्छ्वा-सस्तदुच्छ्वासनाम । विहाय आकाशं तत्र गतेर्निवर्तकात्तद्विहायोगतिर्नाम । तद्द्विविधं प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् । तत्र समक्रम. प्रशस्तो देवचारणाना विषमंक्रमोऽशस्तोमनुष्यादीनाम् । स्थिरतावस्थाननिर्व्वर्तक तत्स्थिरनाम । तद्विपरीतमस्थिरनाम । यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभनाम । तद्विपरीतमशुभ-नाम । एकात्मोपभोगकरणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम । यन्निमित्त मनोज्ञस्वरनिर्व्वर्तक तत्सुस्वरनाम । तद्विपरीत दु स्वरनाम । असातावेद-नीयम् । यन्निमित्तात्परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणनाम । गोत्रं द्विविधमुच्चैर्गोत्र नीचैर्गोत्रमिति । यस्योदयाल्लोकपूजितेषु जन्मकारणं तदुच्चैर्गोत्रं तद्विप-रीत नीचैर्गोत्रम् । निःप्रभशरीरकारणमनादेयनाम । यदुदयाद्रूपादिगुणो-पेतोऽप्यप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनामेति । अयोगिगुणस्थानोपान्त्यसमये एतः द्वास-प्ततिप्रकृतयः क्षीयन्ते । प्रान्तसमये सातावेदनीयं, मनुष्यायु', मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्व्वी, यदुदयाद्वीन्द्रियादिषुत्पत्तिस्तत्त्रसनाम । यदुदयादन्यप्रीति-प्रभवस्तच्छुभनाम, प्रभोपेतशरीरकारणमादेयनाम, यदुदयादाहारादि-पर्याप्तिनिर्व्वत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम, पञ्चाक्षजातिनाम, उच्चैर्गोत्रम्, पुण्यगुण-ख्यापनं यशःकीर्तिनाम, अन्यबाधाकरशरीरकारणं वादरनाम, आर्हन्त्य-कारणं तीर्थकरत्वनाम । तानि पौद्गलिकद्रव्यकर्माणि तथौपशमिकादि-भव्यात्वानि च भावकर्मण्यपि प्रोन्मुक्तानि येन स प्रोन्मुक्ताशेषस्त-स्मिन्निव । कनक इव यथा सिद्धौषध्युषर्बुधसम्बन्धविध्वस्त बहिरन्तर्म्मल-धातूपलजात्यजाम्बूनद इव । ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिर्वर्तिध्यान-मारभते । समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारः सर्व्वकायवाड्मनोयोगः

सर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात्समुच्छिन्नक्रियानिर्व्वर्त्तिध्याने सर्वबन्धास्रवनिरोधशेषकर्मशातनसामर्थोपपत्तेरयोगिकेवलिनः सम्पूर्णं यथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शनसंसारदुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणं समुपजायते स पुनरयोगकेवली भगवांस्तदाध्यानातिशयधनंजयनिर्द्दग्ध सकलमलकलङ्कबन्धनो निरस्तकिट्टकनकपाषाणकनकवल्लब्धात्मस्वभावः परिनिर्व्वातीति प्रतिपादितवृत्ततात्पर्यार्थः ॥२३॥

आगे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ती नामक चतुर्थ शुक्लध्यान का वर्णन प्रारम्भ करते है—

'जब आतमा परमात्मस्वरूप हो जाता है, श्वासोच्छ्वास नामक प्राणवायु का अवरोध हो जाता है, अघातिया कर्मो का सम्बन्ध छूटना ही चाहता है, समस्त प्रकार की क्रियाओ का समूह क्षीण हो जाता है, यथाख्यातचारित्र पूर्णता को प्राप्त हो जाता है, अन्तरग-बहिरंग सभी दोष नष्ट हो जाते है, और अन्तिम शुक्लध्यान को पाकर आतमा जहा सुवर्ण के समान निर्मल हो जाता है उस अयोग-केवली का अवश्य ही मोक्ष होता है सो ठीक ही है क्योकि कारण की पूर्णता मे विलम्ब कैसे हो सकता है।'

विशेषार्थ—तृतीय शुक्लध्यान के समय काययोग द्वारा आत्म-प्रदेशो मे सूक्ष्म परिष्पन्द होता था परन्तु चौदहवे गुणस्थान मे पहुंचते ही वह सूक्ष्म परिष्पन्द भी बन्द हो जाता है। आतमा की ज्ञानानन्दघन अवस्था प्रकट हो जाती है, अत. आत्मा परमात्मा बन जाता है। श्वासोच्छ्वास का सचार रुक जाता है, अघातिया कर्मो की ८५ प्रकृतियो का अस्तित्व तेरहवे गुणस्थान मे था परन्तु चौदहवें मे गुणस्थान में प्रवेश करते ही

उनका सबन्ध आत्मा से छूटने लगता है । जो भी क्रियाए अवशिष्ट थी उन सबका समूह क्षीरण हो जाता है । यथाख्यातचारित्र यद्यपि मोहनीयकर्म का क्षय हो जाने से बारहवे गुणस्थान मे ही प्राप्त हो गया था, परन्तु प्रदेश प्रकम्पन के रहने से उसमे पूर्णता नही आई थी । चौदहवे गुणस्थान मे योगनिरोध होने से उसमे पूर्णता आ जाती है । राग-द्वेष-मोह आदि अठारह दोष बिल्कुल ही नष्ट हो जाते है । इस समय शुक्लध्यान का चतुर्थ भेद प्रकट होता है उसके प्रभाव-से आत्मा निष्टप्तकनकच्छाय—तपाये हुये स्वर्ण के समान उज्ज्वल हो जाता है और चौदहवे गुणस्थान के उपान्त समय मे ७२ तथा अन्त समय मे १३ प्रकृतियो का सर्वथा क्षय हो जाता है । जव तक कारण की पूर्णता नही होती तब तक कार्य सिद्ध नही हो सकता । अयोगकेवली भगवान् के समस्त कारणो की पूर्णता हो जाती है इसलिए लघु अन्तर्मुहूर्त मे ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है । इस श्लोक को सस्कृत की टीका मे कर्म प्रकृतियो के स्वरूप तथा भेदो का वर्णन किया गया है जो कि सर्वत्र प्रसिद्ध है ।।३३।।

प्राज्यसाम्राज्यार्यमप्रतापविश्वंविश्वंभरेश्वरतीर्थकृच्चक्रिमकरकेतनप्रमुखमहापुरुषार्च्चितसमागमासारसंसारससरणश्रमशान्तिशरारु ज्ञानशरीरनिरतिशयाक्षयसुखस्वभावलक्ष्मी संलक्षितमोक्षमानिनीवलक्षकटाक्षाक्षेपविक्षेपेक्षण साक्षात्करणक्षमदक्ष हतरूप (?) पूर्व्वानन्तर वृत्ताक्षिप्त यथाख्यातचारित्रव्याख्यानपरं चञ्चच्चारित्रविचारोचितचारुचार्व्वीनिश्चिततत्त्वरुचिचयचितुचिदानन्दोदञ्चदुच्चरोमाञ्चोच्छलद्वहिर्निर्गच्छदतुच्छताविच्छगुलुच्छायाछुपतमिश्रसघातप्रारब्धध्यानारोधनधन्य -

ध्यानिजनमनस्तामरस विकाशनोष्मरश्मयः सूरयः सर्व्वेत्यादि वृत्त-मधिजगुः—

सर्वासां हि क्रियाणामुपरतिमसमां प्राहुरेतच्चरित्रं,
पात्रं तन्मुख्यवृत्त्या भवति खलु यतोऽयोगिनोऽन्यः परो न।
अस्यार्हत्यभ्युपेतौ स्थितिरिह न भवेन्मुक्तहेतुप्रपञ्च,
उत्कृष्टायाः परोऽस्या अपि जगति यतो नास्ति रत्नत्रयाप्तेः ।३४।

प्राहुः कथयन्ति। किम्? चरित्रमाचरणविशेषम्। किंभूतम्? एतत्प्रत्यक्षीभूतम्। काम्? उपरतिं व्यावृत्तिम्। किंभूताम्? असमामतुल्याम्। परमप्रकर्षप्राप्ताम्। कासाम्? क्रियाणाम् व्यापाराणाम्। किंभूतानाम्? सर्वासा पुण्यपापरूपिणीनां शुभाशुभसंरम्भसमारम्भ भविष्णुभवाम्भोधिविवर्त्तस्वभावसुरनरतिर्यग्नारकभूरिभवाविर्भविभाविनीनामित्यर्थः। भवति। किम्? पात्रं परमात्मोत्तमोत्तमपात्रम्। किम् तत्? दर्शनज्ञानचारित्रात्मकात्मोपयोगमात्रम्। कया? मुख्यवृत्त्या प्रधानवृत्त्या। कुत. ? यतो न खलु नैवास्ति। कः? अन्यः परः प्रधानपात्रतोपेतः। कस्मात्? अयोगिजिनात्। न भवेत् न स्यात्। का? स्थितिः व्यवस्थितिः स्थानम्। क्व? इहास्मिन् जगति। कस्याम्? अभ्युपेतावभ्युपगमने। कस्यास्य? निखिलोद्गम विगमागम संगमन निबन्धसमग्रव्यापारोपरमरूप-यथाख्यातचारित्रस्य। कस्मिन्? अर्हति सयोगिजिने। कुतः? यतो नाप्यस्ति नैव विद्यते। कः? परोऽन्यः। कः? मुक्तिहेतुप्रपञ्चो मोक्ष-कारण विस्तरः। कस्याः? रत्नत्रयप्राप्तेः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्राप्तेः। ननु यदि रत्नत्रयप्राप्तेर्मुक्तिहेतुतननं तंतन्यते तदा व्यवहाररत्नत्रयादपि स्यात्। तथाहि सर्वज्ञातीन्द्रियज्ञाननिर्णीतजीवादिसप्ततत्वाभिरोचनं सम्यग्दर्शनम्। पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यनवपदार्थाद्यवगमस्वभावं सम्यग्ज्ञानम्। सकलपापक्रियोपरमरूपं सम्यक्चारित्रमिति। न चैतस्मान्मोक्षावाप्तिरह-मिन्द्रादिपदप्राप्तेरेवातः प्रतिसिद्धेरित्याहु-उत्कृष्टायाः परमार्थस्वभावायाः।

किम् ? इदं परमार्थस्वरूपत्वम् रत्नत्रयाप्तेरिति निरूप्यन्ते। तत्रानल्पसंकल्पकल्पान्तानिलोच्छलितानच्छातुच्छसद्भूतनित्यत्वानित्यत्वक्रमाक्रमसुखदुःखादिपर्यायरङ्गचङ्गदुत्तुङ्गतरङ्गाभोगोद्भूर्णतरङ्गिणीपतेरिवचैतन्यरत्नाकरस्यासन्नयोपकल्पितविकल्पयुगान्तमारुतोपरतनिस्तरङ्गस्वाभाविकपरिणामापन्नपाथोनिधिरिव कर्माकीर्णनिकिकिर्म्मीराकारकषण भूतार्थशुद्धद्रव्यार्थिकनयनिर्णीतव्यापकपूर्णघनैकज्ञाननियतस्यात्मनो दर्शनं सम्यग्दर्शनं, ज्ञानानन्दानन्तवीर्यदृगात्मनो ज्ञान सम्यग्ज्ञानं, सकलसत्क्रियासत्क्रियोपरम शुद्धानन्तबोधाद्यात्मपरमात्मनि चरण सम्यक्चारित्रमित्येतस्याः परमप्रकर्षप्राप्ताया रत्नत्रयप्राप्तेः सिद्धिसौधाधिरोहणं भवत्येवेत्यर्थः। सर्वक्रियोपरम रूपं चारित्रमुच्चरंते सच्चरित्रचेतसः सच्चरित्रचारिणोऽयोगिजिनस्यैव सत्पात्रव्यवस्थितेः। नचाखिलक्रियाकलापवैकल्यकलितं चारित्रं जिनेऽस्ति तदनन्तरमेवापवर्गसङ्क्रान्तरविकलकारणत्वात्। यद्यत्राविकलकारणं तत्तत्र भवत्येव यथा मृद्दण्डचक्रचीवरकुलालकरव्यापाराविकलकारणकः कुटः। अविकलकारण च रत्नत्रय मोक्षस्येति सिद्धिर्जिनस्य मोक्षाश्रयत्वसिद्धेर्जिनहीन जगदापनीपद्येत। नचोत्कृष्टरत्नत्रयं विनान्यकारणं जैनराद्धान्ते सिद्धिनिबन्धनमस्तीति निर्ज्ञातवृत्ततात्पर्यार्थः ॥ ३४ ॥

आगे मोक्षप्राप्ति का असाधारण कारण जो परमयथाख्यात चारित्र है वह अयोगकेवली के ही होता है ऐसा निरूपण करते हैं—

'समस्त क्रियाओ का अतुल्य—परम प्रकर्ष को प्राप्त होने वाला जो उपरम है यही चारित्र कहलाता है। मुख्यरूप से यह चारित्र अयोगकेवली के ही होता है क्योकि उनसे उत्कृष्ट दूसरा व्यक्ति इस ससार मे नही है। यदि सयोगकेवली के इसकी प्राप्ति मानी जावे तो वे फिर इस ससार मे न रहे, क्योकि इस

सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रय की प्राप्ति से बढकर और कुछ मुक्ति का कारण नही है।'

विशेषार्थ—आगम मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌-चारित्र की पूर्णता को मोक्ष का मार्ग कहा है। इन तीनो की पूर्णता हुई नही कि मोक्ष प्राप्त हो गया। क्षायिक सम्यग्दर्शन अपने आपमे पूर्ण सम्यग्दर्शन कहलाता है। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवे गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान मे उसकी पूर्ति हो-जाती है। चारित्र-मोहनीय कर्म का उदय चारित्र गुण का आवरण करता है। क्षपक श्रेणीवाला जीव दशम गुणस्थान के अन्त मे उसका क्षय कर चुकता है। बारहवे गुणस्थान से क्षायिक यथाख्यात चारित्र प्रकट हो जाता है और बारहवे गुणस्थान के अन्त मे ज्ञानावरण आदि तीन घातिया कर्मो का क्षय हो जाता है जिससे तेरहवे गुणस्थान मे लोकालोकावभासी केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। इस प्रकार तेरहवे गुणस्थान मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र इन तीनो की पूर्णता हो जाती है। फिर क्या कारण है कि देशोनकोटिवर्ष पूर्व तक मोक्ष की प्राप्ति नही होती है? यह एक प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका उत्तर ग्रथकर्ता ने इस श्लोक मे दिया है कि वास्तव मे चारित्र क्या है और कहा होता है? उन्होने समस्त क्रियाओ का यहा तक कि आत्मप्रदेश परिष्पन्दो का भी सवर्था अभाव हो जाना ही चारित्र माना है और ऐसा चारित्र मुख्य रूप से अयोग-केवलि जिन के ही होता है। सयोग केवलि जिन के योग सद्‌भाव के कारण आत्मप्रदेश परिष्पन्द रूप क्रिया

विद्यमान रहती है अतः पूर्वोक्त चारित्रगुण सभव नही है। यदि सयोग-केवलि-जिनके इस चारित्र की प्राप्ति हो जावे तो रत्नत्रय की पूर्णता हो जाने के कारण वे ससार मे अवस्थित नही रह सकते। रत्नत्रय की पूर्णता मोक्ष-प्राप्ति का असाधारण कारण है ॥३४॥

तत्त्वामूलोन्मूलिताखिलकर्म्मानोकहकक्षाणां सिद्धपरमेष्ठिना संसारिणां संसरण कर्मकदम्बकाभावादूर्ध्वगमनं न प्राप्तोत्यधस्तिर्यंग्गमनाभावात्। तथाहि सिद्धानामूर्ध्वगमन नास्ति गमनागमननिबन्धनकर्म्मकारणोपलम्भाभावात् अधस्तिर्यंगगमनाभाववदिति विवदमानं दुर्व्वादिन र्न्विवाद-मुद्रया मुद्रयन्तो यथावत्तत्स्वभाववेदिनः सूरय ऊर्ध्वमित्यादि दध्वनन्ति—

ऊर्ध्वव्रज्यात्मकत्वादयमनिलशिरषावत्ततः प्रोर्ध्वमीर्त्ते,
नो याने चायमास्ते जगति हि गगने यन्न धर्मास्तिकायः।
प्रत्यावृत्तिर्न मोक्षादवमविगमनान्नैव जीवैर्विहीनः,
संसारोऽनन्तभावान्न च जननविधिस्तेष्वपूर्वैष्वहेतोः ॥३५॥

सकल कर्म विप्रमोक्षानन्तरम् ईर्त्ते गच्छति। कः ? अयमयोगिजिनः। किं कर्म्मतापन्नम् ? प्रोर्द्धमूर्ध्वाशासमाश्रित शिवसदनम्। कस्मात् ? ऊर्ध्वव्रज्यात्मकत्वादूर्ध्वगमनस्वभावत्वात्। नन्वप्रतिपादितकरणकमिदमूर्ध्वगतित्वं कथ निर्णेतुं पार्यते ? अत्राभिधीयते, पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च। प्रभूतोऽपि दृष्टान्तः समर्थनमन्तरेणाभिप्रेतप्रयोजनसाधनाय न समर्थ इत्युच्यते—आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपोपलेपतुम्बकवद्वातारिवीजवदसमकरशिखाजालवच्च पूर्वोक्ताना हेतूनां दृष्टान्ताना च यथासंख्यं संबन्धो भवति। तद्यथा कुम्भकारप्रयोगापादितकरदण्डचक्रसंयोगपूर्वकं भ्रमणमुपरतेऽपि तत्पूर्व्वपूर्व्वप्रयोगादासंस्कारक्षयाद्भ्रमणमेवं भवस्थेनात्मनापवर्गप्राप्तये बहुशो यत्प्रणिधानं (कृतं) तदभावेऽपि तदावेशपूर्वकं मुक्तस्य गमनमवसीयते। किञ्चासङ्गत्वात्, यथा

मृत्तिकालेपजनितगौरवमलावुद्रव्यं जलेऽध: पतितं जलार्द्रीभावविश्लिष्ट-मृत्तिकाबन्धनं लघु सदूर्ध्वमेव गच्छति तथा कर्म्मभाराक्रान्तवशीकृतात्मा तदावेशवशात्संसारे नियमेन गच्छति तत्सम्बन्ध प्रमुक्तौ तूपर्येव याति। किञ्च, बन्धच्छेदात्। यथा—बन्धच्छेदादेरण्डवीजस्य गतिर्दृष्टा तथा मनुष्यादिभवप्रापकगतिजातिनामादिसकलकर्मबन्धच्छेदान्मुक्तस्योर्ध्वगतिरव सीयते। किञ्च, तथागतिपरिणामात्। यथा तिर्यक्प्लवनस्वभाव समीरणसम्बन्धोपहतकीलाकलापोऽपि बह्निः स्वभावादूर्ध्वमुत्पतति तथा मुक्तात्मापि नानागतिविकारकारणकर्मनिवारणे सति उर्ध्वं (गमन) स्वभावत्वादूर्ध्वमेवारोहतीति। यदि मुक्त ऊर्ध्वगतिस्वभावो लोकान्ता दूर्ध्वमपि कस्मान्नोत्पततीत्यत्रोच्यते। नो आस्ते न तिष्ठति। कस्मिन्? याने गमने। क्व? गगने व्योम्नि। किंभूते? जगति लोकबर्हिभूते। कुतो? यद् यस्मात्। न कः? धर्मास्तिकायो गत्युपग्रहकारको धर्मास्ति-कायो नोपर्यस्तीत्यलोकाकाशे गमनाभावः। तत्र धर्मद्रव्यसद्भावे वा लोका-लोकविभागाभावो वोभूयेत। ननु यद्यपि लोकान्तगगने न गच्छति तर्हि ततो व्यावर्त्तत इति चेत्? न भवति। का? प्रत्यावृत्तिः? कस्मान्मोक्षात्। कुतो? अवमविगमनात् कर्माभावात्। नन्वनाद्यन्तकालेनोत्कृष्टरत्न-त्रयसंगतेः प्रतिसमयं जन्तुजातस्य मोक्षस्थान प्राप्तेर्जीवहीनं जगज्जजन्यत इति चेत्? नैव न च स्यात्। क: ? संसारो भवः। किंभूतो विहीनो रहितः। कैः? जीवैः सत्त्वैः। कुतः? अनन्तभावात् मुक्तानन्तराशेः सर्वात्मराशेरनन्तगुणत्वादिति। तदुक्तं परमागमे, '[1]एकनिगोतशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतोहृष्टाः। सिद्धैरनन्तगुणिताः सर्वेणाप्यतीतकालेन' ॥ इति। यथा कौमुदीकान्तकरस्पर्शाद् द्रवन्नपि चन्द्रकान्तमणिर्न हीयते, यथा चुलुकैश्चुलुप्यमानस्य जलधेर्जलततिर्न त्रुटति, यथा कर्पूरपारीवहल परिमलपूरोऽपि नचापचीयते तथा नित्यनिगोतादि ससार्यात्मराशिरपि न

१ एक णिगोदशरीरे जीवा दव्वपमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥ गो जी. का. ॥

हीनतां व्रजतीत्यर्थः । नन्वनन्तभावान्नप्राणिगणाकीर्णत्वं त्रिभुवनस्य तंत-न्यतेऽपित्वपूर्वप्राण्युत्पत्तेरितिचेत् ? न च नैव युक्त उपपन्नः । कः ? जनन-विधिरुत्पादककारणकलापः । केषु ? तेषु जीवेषु । किंभूतेषु ? अपूर्वेषु नूत-नेषु । कुत ? सदकारणकत्वाज्जन्तूनाम् । तथाहि यत्सदकारणकं तदना-द्यनिबन्धनं यथा वनपवनावनिवैश्वानराः सदकारणक-च हर्षामर्षोत्कर्ष भीतिविस्मयस्मयकरुणाकरणहरणातङ्कशोकौदासीन्य दौर्जन्यादिपर्या-यात्मकं जन्म विनाशान्तं चित्स्वभावात्मकं तच्चान्तनमिति । अथ भूतानि चैतन्योत्पादककारणान्यकारणकत्वासिद्धे विशेषणासिद्धो हेतु रिति चेत् ? नाचित्स्वभावेभ्यो भूतेभ्यश्चिल्लक्षणं तत्त्वान्तरं विरोधात् । ननु विजा-तीयोत्पत्तिर्दरीदृश्यते यथादरदात्पारदोय जलान्मुक्ताफल काष्ठादनल इत्यादि स्तथा विजातीयेभ्योऽपि भूतेभ्यो विजातीयचैतन्योत्पत्तिरितिचेन्न । तत्र पुद्गलत्वेन सजातीयत्वसंभवात् सर्वथा विजातीयत्वासिद्धेः । भूतचैतन्य-योस्तु सजातीयत्वे प्रत्यक्षविरोधादित्यादितर्क्कशास्त्रादवगन्तव्यमित्युपर-म्यते । प्रधानाप्रधानकर्मप्रकृतिपाशविध्वंसनादूर्ध्वमेव व्रजति सिद्धपरमेष्ठी ऊर्ध्वगमनस्वभावत्वाज्ज्वलनज्वालाजालवत् । न च व्रजन्नेवास्ते लोकवि-कलाकाशे गतिहेतुधर्म्मास्तिकायवैकल्याद् व्यावर्तननिवन्धन कर्म्मवन्धुवै-धुर्याद्भुवनान्तसिद्धिसौधान्नाधः पतति सर्वात्मना मोक्षमन्दिरोदरान्तर्गतत्वे-ऽप्यमुक्तात्मना ततोऽनन्तगुणत्वान्न संसारिशून्यं त्रिविष्टपं नचाभिनवज-न्तुसन्तत्युत्पत्तिनिबन्धनमुपादानसहकारिकारणं वा सपश्यामहे प्रत्यक्षादि-प्रमाणविरोधादितिनिर्णीतवृत्तसमुदायार्थः ॥३५॥

आगे यह जीव स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करता है ऐसा निरूपण करते हैं—

'समस्त कर्मो का क्षय होने के बाद यह जीव अग्नि शिखा के समान ऊर्ध्व गमन स्वभाव होने से ऊर्ध्व गमन करता है— एक समय मे तनुवातवलय के अन्त तक पहुच जाता है। उसके आगे आकाश मे गमन इसलिये नही करता है कि वहां धर्मास्ति-

काय नही है। मोक्ष स्थान से लौटकर यह जीव वापिस नही आता, क्योकि उसके ससारोत्पत्ति मे कारणभूत कर्मो का अभाव हो चुकता है। इस ससार मे अनन्त जीव है इसलिये यह कभी भी जीवो से रिक्त नही होना है। नवीन जीवो की उत्पत्ति इसलिये नही होती कि उसका कोई कारण नही है—सदकारणवान् होने से जीव अनादि निधन है'।

विशेषार्थ—चौदहवे गुणस्थान के अन्त समय मे ज्योही समस्त कर्म प्रकृतियो का क्षय होता है त्योही यह आत्मा ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से ऊपर की ओर गमन करता है और लोक के अन्त तक एक समय मे पहुंच जाता है। लोक के अन्त मे तनुवातवलय है जिसका विस्तार १५७५ धनुष है। इसका अन्तिम ५२५ धनुष प्रमाण क्षेत्र सिद्ध क्षेत्र कहलाता है। समस्त सिद्धात्माओ के शिर तनुवातवलय के अन्तिम पटल से छुए हुए रहते है। नीचे जिनकी जितनी अवगाहना रहती है उतनी दूर उनके आत्म-प्रदेश अवस्थित रहते है। मोक्ष हो जानेवाले जीवों के शरीर का प्रमाण कम से कम साढे तीन हाथ और अधिक से अधिक पाच सौ पच्चीस धनुष का होता है। जिस प्रकार अग्नि-शिखा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है उसी प्रकार जीव का स्वभाव भी ऊर्ध्वगमन है। ससारी अवस्था मे कर्मो से आवृत रहने के कारण जीव का यह स्वभाव आवृत रहता है परन्तु मुक्त अवस्था मे कर्म का आवरण दूर होते ही वह प्रकट हो जाता है। तत्त्वार्थ सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य ने इस विषय मे अग्निशिखा के साथ आविद्धकुलालचक्र, व्यपगतलेपालाबु और एरण्ड

वीज का भी उदाहरण दिया है। सस्कृत-टीकाकार ने भी उनका निरूपण किया है।

प्रश्न—जब कि जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है और तनु-वात वलय के आगे अनन्त आकाश खुला पडा है तब यह मुक्त जीव तनुवात वलय के आगे क्यो नही जाता ?

उत्तर—मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव अवश्य प्रकट हुआ है परन्तु वह धर्मास्तिकाय की सहकारिता पाकर ही अपना कार्य कर सकता है। तनुवातवलय के आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है अत मुक्त जीव उसके आगे नही जाते।

प्रश्न—यदि तनुवातवलय के आगे धर्मास्तिकाय का सद्भाव मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—लोक और अलोक का विभाग समाप्त हो जावेगा।

प्रश्न—माना कि मुक्तजीव धर्मास्तिकाय की सहकारिता न मिलने से लोकान्त के आगे नही जाते परन्तु वापिस नीचे आने मे तो यह प्रतिबन्ध नही है। लोक मे धर्मास्तिकाय विद्यमान है ही ? फिर वापिस क्यो नही चले आते ?

उत्तर—यह ऊपर लिख आये है कि जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है ससारी अवस्था मे वह कर्मोदय से तिरोहित रहता था। अब मोक्ष हो जाने पर कर्म का सम्बन्ध छूट जाने से प्रकट हुआ है अत. नीचे की ओर वापिस आने मे कोई कारण नही है।

प्रश्न—अनन्तकाल से जीव मोक्ष जा रहे है और अनन्त काल तक चले जावेगे। छह माह आठ समय मे कम से कम छह सौ आठ जीव तो मोक्ष जाते ही है फिर कभी यह ससार

जीवो—भव्य प्राणियो से–खाली नही हो जायगा ?

उत्तर—नही, अब तक अनन्त जीव मोक्ष जा चुके है फिर भी ससार मे जो जीव राशि अवस्थित है वह मुक्त जीवो की राशि से अनन्त गुणी है । परमागम मे लिखा है कि एक निगोद जीव के शरीर मे सिद्धो से तथा समस्त भूतकाल से अनन्त गुणित जीव अवस्थित है । उदाहरण से भी यह बात सिद्ध है कि जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणो का सम्बन्ध पाकर चन्द्र-कान्त मणि से पानी झरता है परन्तु इससे चन्द्रकान्तमणि कभी समाप्त नही होता। अथवा जिस प्रकार समुद्र को चुल्लुओ से उलीचा जावे फिर भी उसका जल समाप्त नही होता अथवा जिस प्रकार कपूर के पिण्ड से निकलने वाली सुगन्धि कभी समाप्त नही होती उसी प्रकार अनन्तनिगोद राशि कभी समाप्त नही होती। अथवा जिस सर्वज्ञ के ज्ञान मे यह बात आई है कि अनन्त जीव मोक्ष जा चुके है, उसी सर्वज्ञ के ज्ञान मे यह बात भी आई कि यह ससार कभी भी जीवो से रिक्त नही होगा । विरोध तब मालूम होता है जब लोग एक बात को सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय मानते है और दूसरी बात को अपने तुच्छ श्रुतज्ञान का विषय बनाना चाहते है ।

प्रश्न—यह ससार अनन्त होने के कारण प्राणियो के समूह से नही भरा है किन्तु नये-नये जीव उत्पन्न होते जाते है इसलिए प्राणि-समूह से भरा है ?

उत्तर—यह ठीक नही है; क्योंकि नवीन जीवो की उत्पत्ति का कोई कारण नही है । संसार के समस्त द्रव्य सदकारणवान्

होने से अनादि निधन है। कोई भी द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। उत्पाद और विनाश पर्यायो पर ही अवलम्बित है। जीव-द्रव्य की एक पर्याय नष्ट होकर दूसरी पर्याय उत्पन्न हो सकती है परन्तु जीव-द्रव्य नष्ट नही होता और न उत्पन्न ही होता है।

प्रश्न—नवीन जीवो की उत्पत्ति का कारण क्यो नही है ? हम प्रत्यक्ष देखते है कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार महा-भूतो के सम्पर्क से नित्यप्रति नये-नये जीव उत्पन्न होते रहते है ?

उत्तर—यह बात असगत है। विजातीय द्रव्य से विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति कभी नही होती। भूतचतुष्टय जड़ है और जीव चैतन्य का पुञ्ज है। जड से चैतन्य की उत्पत्ति सर्वथा असभव है।

प्रश्न—हम नित्यप्रति प्रत्यक्ष देखते है ?

उत्तर—प्रत्यक्ष क्या देखते हो ? जीव का शरीर ही तो देखते हो। जीव जो चैतन्य का पुञ्ज है, अनन्त आनन्द का आयतन है वह तो आपको नही दिखता। जो दिखता है वह शरीर है, जड है, फिर जड से जड़ की उत्पत्ति हो गई इसमे आश्चर्य क्या हुआ ? इस जड शरीर के भीतर रहने वाला तत्व किसी से उत्पन्न नही होता और न किसी से नष्ट होता है ॥३५॥

पूर्वापरकोटि विघटितस्पष्टटङ्कोत्कीर्णान्योन्यासंश्लिष्टप्रतिक्षणं विश-रारूकार्यकारणभावप्रवन्धानुवन्ध्यपरामृष्टभेद-मध्यक्षणमात्रावलम्बिस्वलक्ष-णलक्षितबहिरन्तःपुद्गलज्ञानपरमाणुरूपतत्वावबोधविवृद्धोद्धुरबोधाह्वय -

ध्वांतान्धीकृतयथार्थदृष्टयो बौद्धा नैरात्म्यानुध्यानध्वस्तसकलसमुदायदुःखाविष्टस्य मुमुक्षोः प्रदीपनिर्वाणलक्षणो मोक्षो भवतीति यथा प्रदीप ऊर्ध्वाधः प्राच्यामपाच्यां विदिशि च न गच्छति केवलं तैलदशानाशाच्छान्तिमुपयात्यभावाभिधान तथात्मापि क्लेशनाशाच्छून्यस्वभावा शान्तिं याति निराकारत्वाच्च मुक्तस्याभाव इति प्रत्यवतिष्ठमानास्तत्वप्रतिष्ठापटिष्ठा निष्ठुर चानुप्रतिक्षिपन्तः श्रुतज्ञानसाक्षात्कृतमोक्षाक्षूणलक्षणाः प्रेक्षादक्षाश्चालोकान्तादित्याद्याचक्षते सूरयः—

आलोकान्तात्समीरात्समतति समयेनायमेकेन मुक्ता—
वस्योत्कर्षाद्विशुद्धेर्घन विवरतया किञ्चदूनाकृतिः स्तः।
एनःसंवृद्धिबन्धव्युपरमकरणाद् ध्यानमेतच्च मुक्त—
माद्ये द्वे तत्र पूर्वश्रुतिनि जिनपतावुत्तरे द्वे च शुक्ले ॥३६॥

समतति संगच्छति। कः? अयं कर्मोन्मुक्तः। आ कुतः? समीराच्चरण्योः। कि भूतात्? आलोकान्तात् लोकान्तव्यवस्थितात्। अत्राङ्-अभिविधौ दृष्टव्यस्ततोऽमयर्थः संपद्यते। लोकान्ततनुवातमारुते स्थित इत्यर्थः। केन? समयेन समय मात्रावस्थितेन। कि भूतेन? एकेनेकसंख्येन। कस्याम्? मुक्तौ सिद्धसद्मनि। नन्वनाकारत्वादभाव इत्युक्तं तदयुक्तं यद्यपि रूपाद्यात्मिका न तत्राकृतिस्तथापि भवति। का? आकृतिः प्रतिकृतिः प्रतिबिम्बम्। किं भूता? किञ्चदूनाकियन्मात्रेण। कया? घनविवरतया घना निविडा विवराश्छिद्रास्तेषा भावस्तत्ता तया मदनहीनभूषागर्भवदतीतानन्तरतन्वाकारजीवघनैकरूपत्वान्निखिलसुषिरप्रदेशानामित्यर्थः। कस्य? अस्यायोगिजिनस्य। कस्मात्? उत्कर्षात् प्रकर्षात्। कस्याः? विशुद्धेः सकलमलकलङ्कनिर्मुक्तेः। स्यादाकूतं यदि कायाकरानुकारी जीवस्तदभावात्स्वाभाविकलोकाकाशप्रमाणत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नोति। नैष दोषः। कुतः? कारणाभावात्। नामकर्मोदयो हि संहरणविसर्पणकारणं तदभावात्पुनः संहरणविसर्पणाभावः। नन्वयोगिजिने न किञ्चिद्ध्यानमस्तीति चेत्? न। विद्यते। किम्? ध्यानम्। किं भूतम्? एत-

त्प्रत्यक्षीभूतम् । किमभिधानम् ? मुक्तम् । कुतः ? एनः संवृद्धिबन्धव्युपरमकरणाद् एनः पापं तस्य संवृद्धिर्वर्धनं तस्य बन्धः संश्लेषस्तस्य व्युपरमो विनाशस्तस्य करण विधानं तस्मात् । कुत एतत् ? यतः स्तः । के ? द्वे शुक्लध्याने । कि भूते ? पूर्वे आद्ये । क्व ? तत्र पूर्वश्रुतिनि परिप्राप्त-समग्रश्रुतज्ञान इत्यर्थः । भवतः । कस्मिन् ? जिनपतावर्हति के ? द्वे च द्वे एव शुक्ले । किंभूते ? उत्तरे पश्चात्प्रतिपादिते । नामूर्त्तत्वात्प्रदीपभावाभावान्मुक्तस्य मुक्तिर्भणनीया । कुतः ? विशुद्धिपरमकाष्ठानिष्ठत्वात् । समयेनैकेनचरमपुरप्रतिमानस्य किंचिदूननीरन्ध्रात्मघनस्यालोकान्तानिलान्तव्यवस्थितेः । न च तत्रध्यानं नास्तीत्यभिधानीमघात्यघसंघातघातित्वेन मुक्ते. प्रान्त्य शुक्लध्यानसद्भावात् । नचेदमनागमिकमित्यभिधातव्यमेकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे इति तत्त्वार्थेऽभिहितत्वात् । उत्तरे च शुक्लध्याने केवलिन्येवेति विदितार्थप्रवृत्तसंघातार्थः ॥३६॥

आगे मुक्तावस्था मे आत्मा का उच्छेद हो जाता है, बौद्धो के इस मुक्तिवाद का निराकरण करते है—

'विशुद्धि की उत्कर्षता से मुक्ति प्राप्त होने पर यह जीव एक ही समय मे लोकान्त मे स्थित तनुवातवलय तक पहुंच जाता है। वहा घनविवर रूप होने के कारण इसका आकार चरम शरीर से कुछ न्यून हो जाता है। पाप-वृद्धि मे कारणभूत कर्मबन्ध का अभाव होने से अयोगि-जिनेन्द्र के ध्यान का सद्भाव है। आगम मे यह ठीक ही कहा है कि आदि के दो शुक्लध्यान पूर्व-श्रुतज्ञानी—श्रुतकेवली के होते है **और** अन्त के दो शुक्लध्यान जिनेन्द्रदेव के होते है'।

विशेषार्थ—बौद्धो ने माना है कि जिस प्रकार तेल समाप्त होने पर जब दीपक बुझता है। तब वह न किसी दिशा को जाता है, न विदिशा को जाता है, न पृथ्वी के नीचे जाता है,

न आकाश की ओर जाता है किन्तु तेल समाप्त होने से वही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार जब यह जीव मुक्त होता है तब ऊपर, नीचे, दिशाओ और विदिशाओ मे कही नही जाता किन्तु क्लेश का क्षय होने से वही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन आत्मोच्छेद को मुक्ति मानता है परन्तु जैन सिद्धान्त मे मुक्ति का यह स्वरूप नही माना गया है। समस्त कर्मरूप परद्रव्य का विप्रयोग होने पर आत्मा की जो शुद्ध दशा प्रकट होती है वही जैन सिद्धात-समत मुक्ति का स्वरूप है । मुक्ति मे आत्मा का उच्छेद नही होता किन्तु पर-पदार्थ के सम्बन्ध से आत्मा मे जो विकार उत्पन्न हुआ था उसका उच्छेद होता है । जब आत्मा से पर-पदार्थ का सम्बन्ध दूर होता है तब आत्मा एक समय में लोकान्त मे विद्यमान तनुवातवलय तक पहुच जाता है । समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक शुक्लध्यान के प्रभाव से आत्मा मे जो सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि प्रकट होती है उसी के द्वारा आत्मा का पर-पदार्थ के साथ सम्बन्ध छूटता है । ससारी अवस्था मे शरीर के भीतर आत्मा रहता है । शरीर के भीतर पेट, गाल, नाक कान आदि कितने ही अगों का निर्माण इस प्रकार का है कि उनके भीतर पोल है—खाली भाग है उसमे आत्मप्रदेश नही है परन्तु बाह्य मे वह शरीर ही कहलाता है । मुक्ति अवस्था में शरीर के भीतर की पोल मिट जाती है और आत्मा के प्रदेश परस्पर मे मिलकर घनरूप हो जाते है अत मुक्त जीव के आत्मप्रदेशो का आकार चरम शरीर के प्रमाण से कुछ कम हो जाता है ।

प्रश्न—यदि आत्मा शरीर के आकार का अनुकरण करता है तो मुक्त-अवस्था मे शरीर का सम्बन्ध छूट जाने से उसे त्रिलोक मे व्याप्त हो जाना चाहिए ?

उत्तर—आत्म-प्रदेशो के सकोच और विस्तार मे शरीर नामकर्म का उदय कारण है और यतः मुक्त-अवस्था मे उसका अभाव हो जाता है अत आत्म-प्रदेशों मे शरीर परिमाण से अधिक विस्तार नही होता ।

प्रश्न—अयोग-केवली गुणस्थान मे ध्यान की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—वहा पाप वृद्धि के कारणभूत बन्ध का अभाव होता है अतः ध्यान का सद्भाव मानना आवश्यक है । जब यह जीव सयोगकेवली गुणस्थान से अयोगकेवली गुणस्थान में आता है तब इसके ८५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है । उनकी निर्जरा ध्यान से ही होती है । सर्वोत्कृष्ट ध्यान इसी गुणस्थान मे प्रकट होता है और उसके प्रताप से ८५ प्रकृतिया लघु अन्तर्मूहूर्त मे भस्मसात् हो जाती है । आगम मे जहां शुक्लध्यान के चार भेदों के स्वामी बतलाये है वहा पृथक्त्व-वितर्क वीचार और एकत्ववितर्क-विचार ये दो शुक्लध्यान पूर्वधारियों के बतलाये हैं और सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तथा समुच्छिन्नक्रिया निवृत्ति ये दो ध्यान केवली के बतलाये है । सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती सयोगी जिनके और समुच्छिन्नक्रिया निवृत्ति अयोगी जिनके होता है ॥३६॥

ननु बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्म्माधर्मसंस्कारा नव गुणाः संसारिणः समारिदशाया समुपलभ्यन्ते ते च मुक्त्यभिमतावस्थाया मुक्तात्मनो न सन्तीति । जिगसात्मप्रदेशपरिस्पन्दाभावान्न गन्तृत्व नि शेषार्थगमनासंभवाच्चानन्तद्रव्यपर्यायार्थव्यापित्वं सकलकर्माभावकर्तृकत्वाच्चेत्कार्यमुपपन्नम् । तथाहि यत्सकर्तृकं यत्कार्यं यथा कुट, सकर्तृकं च सिद्धत्वं तस्मात्कार्यम्, तदनित्यं तस्य नित्यत्वविरोधादित्यमुमेवार्थमनुमानमुद्रया द्रढयति । यथाहि यत्कार्यं तदनित्य यथा घटः, कार्यं चेद तस्मादनित्यमिति 'भवभावभावभूष्णोर्भव्यजनमनोम्भोजवासित्वं' दुरुपपादमिति वादिन न्यायवेदिन नैयायिक निराकुर्वन्तो निर्णीतानेकान्तवस्तुस्वभावा सोमदेवास्त्वं गन्तेत्यादि गायन्ति सूरय —

त्वं गन्ता नो यियासा तव न च गतिमान्स्पन्दमानप्रदेशः
सर्वार्थव्याप्यवृत्तिर्न च सकलगतः कार्यरूपोऽपि नित्यः ।
संसारातीतमूर्ति न वससि हृदये कस्य लोकत्रयेऽस्मिन्
नो केषां चित्रमेतद्विभवपदपरोऽप्यचर्य्यसे[1] भो मुनीन्द्रैः ॥३७॥

भो भगो सिद्धपरमेष्ठिन् । नो केषा चित्रमपितु सर्वषा चित्रमाश्चर्यम् । किम् ? एतत्प्रत्यक्षीभूतम् । एतत् किम् ? त्वं गन्ता गमनशील. पर न तव यियासा यातुमिच्छेतिचित्रम् । कुतः ? जिगसोरेव गमनोपपत्तेरितिचेन्न गमनेच्छामन्तरेणैव मुक्तात्मनां स्वभावादेव गमनरूपत्वप्रसिद्धेर्वायुवदिति न कश्चिद्विरोधः । अयमपि विरोधः, यः किल गतिमान् भवति स कथमस्पन्दमानप्रदेश इति । स न, गतिमत्त्वेऽपि मुक्तस्य प्रदेशचलनायोगाज्जीवात्मकनिविडपिण्डत्वात् । तथाहि यस्य निविडपिण्डात्मकत्वमसिद्धं निविडपिण्डरूपः सिद्धपरमेष्ठी निर्विवरप्रदेशत्वात्तद्वदेवेति विरोधासिद्धेः । एषोऽपि विरोधो, यो हि सर्वार्थव्यापिवृत्तिः सकलार्थव्यापन स्वभावो न च निखिलगतो नैव सर्वगत इत्यनुमान विरोधश्चेत्तत्रेदमनुमानम् । सिद्धः

१. यन् त०

सर्वगतः सकलार्थव्यापिवृत्तित्वात्, यद्यत्सकलार्थव्यापिवृत्ति तत्सर्वगतं यथाकाश सर्वार्थव्यापिवृत्तिश्चायं तस्मात्सर्वगत इति स न, ज्ञानरूपेणैव जैनैः सकलार्थव्यापित्वप्रतिज्ञानान्नात्मप्रदेशैः। तदुक्त परमागमे आत्मा[1] ज्ञानप्रमाणो ज्ञान ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम्। ज्ञेयं लोकाकाश तस्माज्ज्ञान हि सर्वगतम्'। ज्ञानात्मकत्वेन निखिलार्थ व्यापनेऽपि न मुक्तात्मनः सर्वगतत्व पूर्वोपात्तान्त्यसहननप्रतिनियताकारत्वात्। यस्य प्रतिनियताकारत्वं न तस्य सर्वगतत्व यथा पटस्य प्रतिनियतान्त्यापघनाकृतिश्च मुक्तात्मा तस्मान्न सर्वगत इति विरोधवैधुर्यात्तथात्वमुपपन्नमेवेति। तथेदमप्यतीव विरुद्धमवभासते। कार्यमुत्पाद्यस्तदेव रूप स्वभावो यस्य स नित्योऽनश्वर इति तन्न, नहि सर्वथा कर्माभावकार्यमेव सिद्धत्व स्याद्वादिभिः साध्यते। व्यवहारनयार्पणया कथचिदेव कार्यरूपप्रतिपादनात्। शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया तस्य तैरकार्यवचनापि। सर्वथा नित्यत्वषट्स्थानपतितवृद्धिहान्यात्मकत्वेन परिणामिनित्यत्वाभिधानात्। तथाहि सख्यातभागवृद्ध्यसख्यातभागवृद्ध्यनन्तभागवृद्धिसख्यातगुणवृद्ध्यसख्यातगुणवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिसंख्यात भागहान्यसख्यातभागहान्यनन्तभागहानिसख्यातगुणहान्यसंख्यातगुणहान्यनन्तगुणहानिभिः प्रतिक्षण परिणमनादिति न किञ्चिद्विरुद्धम्। संसारोभवस्तमतीतातिक्रान्ता मूर्तिराकारो यस्य स भवबहिर्भूतमूर्त्तिरपि न कस्य वससि अपि तु सर्वस्य वससि। क्व ? हृदये स्वान्ते। कस्मिन् ? लोकत्रय इत्यतिविरुद्धमवधार्यते तन्न ससारातिक्रान्तमूर्तेरप्यभवरूपार्थित्रिभुवन भव्यजनमनोनलिनवासित्वमविरुद्धमेव। तथेदमप्यतीव विरोधास्पदं यतो विभवोभवाभावः पद स्थानं तत्परस्तन्निष्ठोऽभवपद व्यवस्थितोऽप्यचर्यसे पूज्यसे, त्व मुनीन्द्रैर्मुनीश्वरैरितिनेदमपि विरुद्धं संलक्षते। कुतः ? यतोऽर्चामपि विरुद्धा सलक्षते। कुतः ? यतोऽर्चा सपर्या सा द्विविधा द्रव्यरूपिणी भावस्वभावा च। तत्र भावस्वभावयाऽमलोज्जवलवाक्लतान्तस्रजा

---

१. आदा णाण पमाण णाण णेयप्पमाणमुद्दिट्ठ।
णेय लोयालोयं तह्मा णाण तु सव्वगय ॥२३॥ प्रवचनसारप्रथमाध्यय।

विभवपदपरोऽपि सिद्धपरमेष्ठी यतीश्वरै. पूज्यते । व्रजनाभिलाषं विनापि व्रजननियतत्वादेव व्रजनसङ्गतिर्वा वलालवद् व्यवतिष्ठते परमेष्ठिनस्तथा चलनेऽप्यवयवाचलनं नानुपपन्नं प्रचण्डपुरुषप्रेरितोपलपिण्डवदिति । तथा बोधात्मकतया सर्वार्थव्याप्तावपि न सर्वार्थगत्वमात्मनः संपनीपद्यते । तथा सर्ववृजिनव्रजनजग्धत्वेऽपि न परिणामिनित्योपपत्तिर्विरुद्धा । तथा जबंजवीभावाकार रहितत्वेऽपि जगज्जन्मप्रमाथिजनमानसाम्बुजवासित्वं व्यवस्थां प्राञ्चत्येवेति । तथा सिद्धस्थानस्थितत्वेऽपि शिवानां शिवसुखैषिमुनिनायकवचनोन्निद्रसुमनःकम्रामलार्च्चनाघटाकोटिमाटीकत एवेति सम्यगवधारितार्थवृत्तसंकलितार्थः ॥ ३७ ॥

आगे मुक्तात्तात्मा की विशेषता बताते हुए उनकी स्तुति करते है—

'हे भगवन् ! आप गमन करने वाले है परन्तु आपके गमन करने की इच्छा नही है । आप गतिशील है परन्तु आपके आत्म-प्रदेश परिष्पन्दन से रहित है, आप समस्त पदार्थों मे व्याप्त है परन्तु समस्त विश्व मे व्यापक नही है, आप कार्य रूप होने पर भी नित्य है, आपका शरीर संसारातीत है, फिर भी आप इस त्रिभुवन मे किसके हृदय मे निवास नही करते ? सर्वत्र निवास करते है, और जन्ममरण रहित पद पर आरूढ होकर भी मुनीन्द्रो के द्वारा पूजनीय है । उक्त विरोध-सूचक वचन से किसे नही आश्चर्य होगा ?

विशेषार्थ—सिद्ध परमेष्ठी सिद्ध होने के स्थान से लेकर लोकान्त तक एक समय में गमन करते है परन्तु उनके गमन करने की इच्छा नहीं है । इच्छा का सद्भाव उनके हो नही सकता, क्योकि इच्छा का कारण चारित्रमोह का उदय

है और उसका दशम गुणस्थान के अन्त में ही अन्त हो चुकता है। यही नही, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न सस्कार धर्म अधर्म इन विशेष गुणो का अभाव मुक्त जीव के हो जाता है। ऐसा वैशेषिक दर्शन भी मानता है फिर इच्छा के बिना गमन कैसा ? इसका उत्तर यह है कि मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगति स्वभाव है इसलिए वे लोकान्त तक एक समय मे पहुँच जाते है। वहा पहुँचने के बाद फिर उनका अन्यत्र गमन नहीं होता। सिद्ध भगवान् लोकान्त तक गमन करते हैं परन्तु इस गमन से उनके आत्म-प्रदेशों मे परिष्पन्द नही होता। परिष्पन्द वहां संभव होता है जहाँ परिष्पन्द के लिए रिक्त स्थान रहता है। सिद्ध होते ही आत्मा के प्रदेश परस्पर मे निर्विवर होकर मिल जाते है अतः उनमे परिष्पन्द नही हो पाता। कितने ही दर्शनकार ऐसा मानते हैं कि आत्मा मुक्तावस्था मे सर्वत्र व्यापक हो जाता है, इस मान्यता का आचार्य खण्डन करते हुए कहते हैं कि आत्मा ज्ञान की अपेक्षा सर्वत्र व्यापक है अर्थात् लोक अलोक के पदार्थों को आत्मा जानता है परन्तु प्रदेशों की अपेक्षा अन्तिम शरीर से किञ्चिन्न्यून ही रहता है। यही बात प्रवचन सार मे भी श्री कुन्दकुन्द देव ने कही है—''आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है और ज्ञेय लोकाकाश प्रमाण है अतः ज्ञान सर्वत्र व्याप्त है'। आत्मा की सिद्धावस्था सर्व-कर्म-विप्रयोग रूप कारण से उत्पन्न होती है अतः कार्य है और चूकि कार्य

---

१. आदा णाण पमाण णाण णेयप्पमाणमुद्दिठ्ठ।
णेय लोयायासं तम्हा णाण हि सव्वगय॥ प्रवचनसार प्रथमाध्याय

है अतः अनित्य होना चाहिए, यह बात नही है। वह कार्यरूप होकर भी नित्य है। सिद्ध जीव की जो शुद्ध दशा प्रकट होती है वह अनन्त काल तक नष्ट नही होती। यद्यपि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सिद्धावस्था मे भी प्रति समय षड्गुणी-हानि-वृद्धि होती रहती है और उसके रहते हुए उसे नित्य नही माना जा सकता परन्तु यहा उस सूक्ष्म परिणमन की विविक्षा नही है। व्यञ्जन स्थूल पर्याय का अभाव होने से उन्हे नित्य कहा गया है। सिद्धात्मा की शरीरात्मक मूर्ति समारातीत हो चुकी है फिर भी त्रिलोकवर्ती समस्त भव्य प्राणियो के हृदय मे विद्यमान रहती है यह विरोध है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि उनकी शरीराकृति ससारातीत हो चुकी है, परन्तु त्रिलोकवर्ती समस्त भव्य प्राणी अपने हृदय मे सदा उनका स्मरण रखते है। मुक्तात्मा अजन्मा पद को प्राप्त है अर्थात् जन्म से रहित है। फिर भी बड़े-बडे मुनिराज उनकी पूजा करते है" यह भी एक विरोध है और उसका परिहार यह है कि बडे बडे मुनिराज निरन्तर उनका गुण स्मरण करते है। मुनिराज ही नही तीन लोक के ईश्वर जिनके चरणों की वन्दना करते है ऐसे तीर्थकर भी उन सिद्धात्माओ की आराधना करके ही शाश्वती लक्ष्मी को प्राप्त होते है। इस प्रकार सिद्ध भगवान् की विशेषताएँ किनके हृदय मे आश्चर्य उत्पन्न नही करती अर्थात् प्रत्येक के हृदय में आश्चर्य उत्पन्न करती है ॥३७॥

नन्वौपशमिकादिभावनिवृत्तिवत्सकलक्षायिकभावनिवृत्तावव्यपदेशो मुक्तस्य। कुतः ? नि.स्वभावत्वात्। यन्निःस्वभावं न तत्केनापि व्यपदिश्यते

यथा तुरङ्गोत्तमाङ्गे शृङ्गम्, निःस्वभावश्च सकलक्षायिकाभावाभावतया मुक्तस्तस्मान्न सत्त्वादिनापि व्यपदिश्यतइन्यवक्तव्यैकान्तता परिजिहीर्षवोऽभावस्य च भावान्तरस्वभावतां निर्णीषवः सत्ववस्तुत्वद्रव्यत्वनित्यत्वागुरुलघुत्वसप्रदेशत्वामूर्तत्वचेतनत्वप्रमेयत्वादिधर्माधारस्य सम्यक्त्वाद्यष्ट विशेषगुणगुणिनस्तत्तदभिधायकैः शब्दैस्तदभिधेयतां प्रतिपिपादयिषवः पण्डितपुण्डरीकषण्डविकाशनभानवः सौख्यमित्याद्युपदिशन्ति सूरयः।

सौख्यं मोहक्षयेणावृतियुग[1]विगमाद् दृष्टिबोधावपि स्तो,
वीर्यं विघ्नव्ययेनोद्गम विगमहतिश्चायुरुच्छेदनेन।
नामोच्छित्तेरमूर्त्ता [2]स्थितिरुभयकुलासंगमो गोत्रनाशा—
द्वेद्योच्छेदादशेषेन्द्रियजनितसुखातङ्कसंपर्कहानिः॥ ३८॥

भवति। किम्? सौख्यमनन्तसुखस्वभावत्वम्। केन? मोहक्षयेण द्विविधमदिराख्यमोहभूरुहगहनमूल हननेन। (स्तो) भवतः। कौ? दृष्टिबोधावनन्तदर्शनज्ञाने। कस्मात्? आवृतियुगविगमात् निखिलपटप्रतीहारतुल्यदर्शनज्ञानावरणद्वन्द्वोच्छेदात्। किम्। वीर्यमनन्तसामर्थ्यम्। केन? विघ्नव्ययेन विघ्नमन्तरायस्तस्य व्ययो विनाशस्तेन पञ्चप्रकारभाण्डागारिकोपमान्तरायतरुततिपटोत्पाटनोद्भवानन्तशक्तिरित्यर्थः। भवति। का? उद्गमविगमहतिः उद्गम उत्पत्तिर्विगमो विनाशस्तयोर्हतिर्हननम्। केन? आयुरुच्छेदनेन निगलरूपायुःकर्मविनाशनेत्यर्थः। का? स्थितिः स्थानम्। किंभूता? मूर्तिरहिता। कस्याः? नामोच्छित्तेः। विचित्रचित्रकररूपनाम कर्मोच्छेदनात्। कः? उभयकुलासङ्गमउच्चनीचकुलद्वयासम्बन्धः। कुतः? गोत्रनाशात् गुरुलघुकुम्भाविर्भावभाविकुम्भकाराकृतिगोत्रकर्मकषणात्। का? अशेषेन्द्रियजनितसुखातङ्कसंपर्कहानिः। अशेषाणि सर्वाणि च तानि च तानीन्द्रियाणि तैर्जनितमुत्पादितं तच्चतत्सुखञ्च तस्यातङ्कः सद्यःप्राणहरो व्याधिस्तस्य सपर्कः संश्लेषस्तस्य हानिर्हननं सा कस्मात्? वेद्योच्छेदात्

---

१ युगगमनाद् त० २. स्थितिसमय त०।

अमधु मधुदिग्धकौक्षेयकधारानुकारिसातासातस्वभाववेदनीयकर्मबन्धविध्वंसनात्। ननु मोहनीयादिदुष्टकर्म्मारातिनरेन्द्रप्रध्वंसादनन्तसुखस्वभावमुक्तिकामिनीरत्नालङ्कृतानन्तज्ञानसेनेननियुक्ताप्रतिहतानन्तशक्तिकलितमुक्तात्मनश्चक्रवर्त्तित्वं भवतीत्यपयुक्तमभिधीयते यतो हि प्रध्वस्तोऽभवोऽभावस्य च भावस्वभावविरोधान्नीरूपत्वात्। यन्नीरूपं तन्न भावस्वभावं यथा गगनकोकनदं नीरूपस्वभावो (ऽभवश्च) तस्मान्नभाव इति चेन्न तुच्छस्वभावस्याभावस्य सकलप्रमांगोचरातिक्रान्तत्वेन गृहीतुमशक्तेः। भावान्तरस्वभावस्यैवाभावस्य प्रमाणविषयत्वप्रतिपादनात्। तथाहीहभूतले घटो नास्तीर्ति कोऽयम्? घटविफलभूतलोपलम्भ एवेति भावान्तरस्वभावत्वमभावस्य सिध्यत्येवेति ज्ञानावरणाद्यभावस्यानन्तज्ञानाद्यात्मकसाम्राज्यरूपभावान्तरस्वभावता घटामटाट्यते। अनन्तदर्शनादिप्रतिपादकशब्दकदम्बकेन प्रतिपाद्यत्वोपपत्तेर्न सिद्ध परमेष्ठिनोऽवक्तव्यैकान्तो ज्यायानिति निर्ज्ञातार्थवृत्तसंहृत्यर्थः ॥३८॥

आगे आठ कर्मों के अभाव से सिद्ध परमेष्ठी के आठ गुण प्रकट होते हैं 'यह कहते है—

'मोहनीय कर्म का क्षय होने से सिद्ध परमात्मा के अनन्त सुख प्रकट हुआ है, दोनों आवरण—ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय से अनन्त-ज्ञान और अनन्त-दर्शन प्रकट हुए हैं, अन्तराय का क्षय होने से अनन्त-वीर्य प्रकट हुआ है, आयु का उच्छेद हो जाने से जन्म-मरण का अभाव हुआ है, नामकर्म का विनाश होने से अमूर्तावस्था प्रकट हुई है, गोत्रकर्म का नाश होने से उच्च-नीच कुल में अजन्म हुआ है और वेदनीयकर्म का उच्छेद होने से समस्त इन्द्रिय जनित सुख दुःख का सम्बन्ध दूर हुआ है'।

विशेषार्थ—यह जीव अनादि काल से रागादि विभाव रूप परिणमन करता हुआ चतुर्गति रूप संसार मे भ्रमण कर रहा है। आत्मा के रागादि परिणामो का निमित्त पा कर पुद्गल-द्रव्य कर्मरूप परिणत होकर आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हो जाते है और काल पाकर आत्मा के स्वाभाविक गुणो को विकृत या तिरोहित करने लगते है। आत्मा स्वभाव से अनन्त ज्ञान का पुञ्ज है परन्तु समारावस्था मे ज्ञानावरण कर्म का सम्बन्ध हो जाने से उसका वह अनन्त-ज्ञान प्रकट नही हो पाता। ज्ञानावरण के क्षयोपशम की न्यूनाधिकता से ससारी जीव का ज्ञान निरन्तर घटता बढ़ता रहता है। ससारी जीव के कभी अक्षर का अनन्तवा भाग ज्ञान रह जाता है तो कभी बढ कर द्वादशाग का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। ससारी प्राणी कभी सामने की वस्तु को नही जान पाता, तो कभी असख्यात लोक की बात को अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष जानने लगता है। सिद्धावस्था प्रकट होते ही यह सब विषमता दूर हो जाती है। ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्त क्षय हुआ कि समस्त ज्ञान-सूर्य प्रकाशमान होने लगता है। यही बात दर्शनावरण कर्म की है वह आत्मा के सामान्य प्रतिभास को तिरोहित करता है। संसारी अवस्था में उसका जैसा क्षयोपशम होता है वैसा ही उसका थोडा बहुत प्रकाश होता है। चक्षुदर्शन, अचक्षु दर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण न्यूनाधिक रूप से ससारी अवस्था मे प्रकट रहते है; परन्तु सिद्धावस्था में दर्शनावरण का अत्यन्त क्षय हो जाता है इसलिए

केवलदर्शन गुण प्रकट हो जाता है। यह केवलदर्शन, केवलज्ञान के साथ ही रहता है। मोह के उदय मे जीव अपने आप को भूल जाता है। तथा पर को अपना मानने लगता है। दर्शनमोह के उदय से यह जीव स्वरूप को भूल जाता है और चारित्रमोह के उदय से पर को अपना मानने लगता है। इसके उदय मे यह जीव पर-पदार्थ के परिणमन को अपनी इच्छानुकूल बदलने की चेष्टा करता है। उस समय वह यह भूल जाता है कि ससार के प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने अगुरु-लघु गुण का निमित्त पाकर अपनी धारा से परिणमन करते है। त्रिलोक मे किसी पदार्थ के परिणमन की धारा को बदलने की शक्ति किसी मे नही है। यदि कदाचित् ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबन्ध मिल गया कि इस जीव के जैसी इच्छा हुई वैसा ही पदार्थ का परिणमन हो गया तो यह हर्षित होने लगता है और इस बात का गर्व करने लगता है कि मैने यह कार्य कर लिया। परन्तु अधिकांश यही देखा जाता है कि प्राणी की इच्छानुकूल पदार्थो का परिणमन नही होता। संसार मे सबसे बड़ा दु ख है तो यही है कि इच्छानुकूल पदार्थों का परिणमन नही होता। इस प्रकार मोहोदय से यह जीव निरन्तर दु खी रहता है परन्तु सिद्धावस्था मे मोह का सर्वथा क्षय हो जाने से अनन्त-सुख प्रकट हो जाता है। आत्मा अनन्त शक्ति का पुञ्ज है इसीलिए उसके अनन्त गुण सदा व्यवस्थित रहते है। संसारी अवस्था मे अन्तरायकर्म का उदय रहने से आत्मा की अनन्तशक्ति प्रकट नही हो पाती। कुछ अंशो मे क्षयोपशम हुआ तो

अल्पशक्ति प्रकट हो जाती है। अन्तराय-कर्म का यह क्षयोपशम न्यूनाधिक रहता है इसलिए उसके द्वारा प्रकट होनी वाली शक्ति भी न्यूनाधिक रहती है। सिद्धावस्था मे अन्तरायकर्म का क्षय हो जाता है अत: अनन्तशक्ति—अनन्तबल प्रकट हो जाता है। यद्यपि अन्तराय कर्म के दानान्तराय, लाभान्तराय आदि भेदो के क्षय से क्षायिक दान आदि गुण भी प्रकट होते है परन्तु उनका कार्य अरहन्तअवस्था मे ही प्रकट रहता है शरीरनामकर्म— का साथ न रहने से सिद्धावस्था मे उनका कार्य व्यक्त नही हो पाता, अत एक वीर्यगुण का ही मुख्यता से उल्लेख किया है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म है और आत्मा के अनुजीवी-गुणो का घात करते है। बारहवे गुणस्थान के अन्त तक इन सब का घात हो चुकता है और उसके फलस्वरूप अनन्त चतुष्टय अरहन्त अवस्था में ही प्रकट हो जाते है। ये अनन्त चतुष्टय सिद्धावस्था मे भी ज्यो के त्यो विद्यमान रहते है। आयुकर्म के निमित्त से संसारी जीव का जन्म-मरण होता है। जब तक आयु विद्यमान रही तब तक जीव पूर्वशरीर मे विद्यमान रहता है और आयु पूर्ण हुई कि नवीन आयु का उदय होने से नवीन शरीर मे उत्पन्न हो जाता है। इस आयुकर्म के कारण ही इसजीव को एक श्वास मे अठारहबार जन्म मरण करना पडता है। सिद्धावस्था में इसका अभाव हो जाता है अत सिद्धजीव जन्म मरण के दु.ख से बच जाते है। शरीर की रचना नामकर्म के निमित्तसे होती है। शरीर के कारण ही ससारी जीव मूर्तिक कहलाता

है परन्तु सिद्धावस्था मे नामकर्म का अभाव हो जाने से शरीर की रचना नही होती, अत. जीव का अमूर्त्तत्व गुण विकसित हो जाता है। गोत्रकर्म के कारण संसारी जीव कभी उच्च कुल मे और कभी नीच कुल मे उत्पन्न होता है। साथ ही दर्शन-मोह का उदय हुआ तो यह जीव अपने आपको उच्च अथवा नीच समझने लगता है। परन्तु सिद्धावस्था मे गोत्रकर्म का क्षय हो जाता है अतः सिद्धात्मा ऊँच नीच के व्यवहार से दूर हो जाते है। वेदनीयकर्म के उदय से यह जीव इन्द्रियो के इष्ट अनिष्ट विषयो मे सुख-दु.ख का अनुभव किया करता है परन्तु सिद्धावस्था में उसका अभाव हो जाता है अत. इन्द्रिय जन्य सुख-दु ख के अनुभव से सिद्ध परमेष्ठी दूर हो जाते है। आयु, नाम, गोत्र, और वेदनीय ये चार अघातिया कर्म है और आत्मा के अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व अगुरुलघुत्व तथा अव्याबाधत्व नामक प्रतिजीवी गुणो का घात करते है। सिद्धावस्था मे इनका अभाव हो जाने से उक्त गुण प्रकट हो जाते है।

यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि सिद्धावस्था मे अनेक आत्मगुण विद्यमान रहते है उनमें आठगुण मुख्य हैं जो कि आठ कर्मों के अभाव में प्रकट होते है। जैनसिद्धान्त मे वैशेषिक अथवा नैयायिक के समान गुणाभाव को मोक्ष नहीं माना है। जैनसिद्धान्त तुच्छाभाव के सिद्धान्त को स्वीकृत नही करता। मुक्तावस्था मे क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन आदिगुणो का अभाव होता है इसका अर्थ यह है कि मुक्त जीवो के ज्ञान दर्शनादि गुणों की क्षायोपशमिक पर्याय नष्ट हो गई, सर्वथा ज्ञान

दर्शनादि नष्ट हो गये—यह अर्थ नही है। क्योंकि उन्ही ज्ञान; दर्शनादि गुणो की क्षायिक पर्याय विद्यमान रहती है ॥३८॥

नन्वनन्तचतुष्टयात्मकत्वमात्मनो मोक्षेऽसिद्धं बुद्ध्यादिविशेषगुणशून्यस्यात्ममात्रस्य मुक्तत्वाभिधानात्। यत्र बुद्ध्यादिविशेषगुणसद्भावो न तत्र मुक्तत्वं यथा ससारावस्थायाम्। मुक्तत्वं च मुक्तौ तस्माद् बुद्ध्यादिविशेषगुणरहितम्। न च गुणगुणिनोस्तादात्म्याद्गुणाभावाद्गुणिनोऽप्यभाव इत्यभिधातव्यं तत्तादात्म्यस्य प्रत्यक्षानुमानबाधितत्वम्। तथाह्ययं गुण एष गुणीतिप्रत्यक्षबुद्धौ भेदप्रतिभासनात्प्रत्यक्षबाधनम्। तथानुमानबाधनं च गुणगुणिनावत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रत्ययवेद्यत्वाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्च। ययोर्भिन्नप्रत्ययवेद्यत्वं विरुद्धधर्माध्यासत्वं वा तयोर्भेदो यथा घटपटयोर्जलानलयोर्वा। भिन्नप्रत्ययवेद्यत्वं विरुद्धाधर्माध्यासो वा नयोस्तस्माभिन्नाविति ततोऽनन्तज्ञानादि स्वभावत्वं तत्रासिद्धमेवेति ब्रुवाणं वैशेषिकं निराकुर्वाणा यथावद्गुणगुणिभावविचारप्रवणास्तत्त्वरुचिविनेयजनवनेजोन्मेषतरुणतरणयः सूरयो रणन्ति दृष्टीत्यादि—

[1]दृष्टिज्ञाने गुणौ द्वाविह विनिगदितावात्मनि प्राप्ततत्त्वै—
स्तावेव प्राप्तवन्तौ विविधविधितयोत्कर्षभावादबहुत्वम्।
वर्गोऽन्तर्भावमत्र प्रकृतगुणयुगे याति कश्चिन्न वर्गः
सौक्ष्म्यश्रद्धावगाहागुरुलघुगुणताबाध्यताद्यो[2]ऽविरोधः ॥३९॥

विनिगदितौ कथितौ। कौ ? गुणौ गुणविशेषौ। के ? दृष्टिज्ञाने दर्शनज्ञाने। किंभूतौ ? द्वौ द्विसंख्यौ। क्व ? इह जगति। कस्मिन् ? आत्मनि जन्तौ। कैः ? प्राप्ततत्त्वैर्निर्णीततत्त्वैः। ननु भवतु नामात्मनि तद्गुणसद्भावः परमनयोरत्यन्तभेदात्तादात्म्यासिद्धेस्तन्मयत्वं तत्रासिद्धमिति चेन्न, भिन्नप्रत्ययवेद्यत्वं भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वमुच्यते तच्चात्मनानैकान्तिकं तस्य स्वपरप्रत्यक्षानुमानप्रमाणग्राह्यत्वेऽपि भेदाप्रतीतेः। अथ विरु-

१ दृष्टिर्ज्ञान त० २. ताद्याविरोध. त०।

द्धधर्माध्यासेन तयोर्भेदः साध्यते ? तदा कथंचिद् विरुद्धधर्माध्यासो हेतुः सर्वथा वा। यदि वा कथञ्चिदेवातस्तयोर्भेदः सिद्धयेत्तेनैवास्यविनाभाव-सिद्धेर्नपुनः सर्वथा तद्विपर्ययात्। तथा च साधनस्य विरुद्धत्व साध्यं विषयं यत्साध्यनात्सिद्धसाधनं चास्माक कथचित्तद्भेदस्येष्टत्वात्। सर्वथा तद्भे-दसाधने तु कालात्ययापदिष्टत्वं प्रत्यक्ष बाधितकर्मनिदशानन्तरं प्रयुक्तत्वा-दनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादिवत्। तस्मान्नास्माद्धेतुद्वयात्सर्वथाभेदः सिध्यति। किञ्च गुणगुणिनौ नात्यन्त भिन्नौ गुणगुणिभावात्। यावत्यन्तं भिन्नौ न तयोर्गुणगुणिभावो यथा सह्यविन्ध्ययोर्गुणगुणिभावश्चानयोस्त-स्मान्नात्यन्तं भिन्नाविति। ततो नानयो. सर्वथा भेदो नाप्यभेदः कथञ्चि-देव तयोस्तत्सिद्धेः। कथमभेदः कथ वा भेद इति ? ज्ञानात्मनाऽभेदो ज्ञानमेवाभेदो ज्ञानात्मनोः संज्ञासंख्यायारूपतया तु भेदः। इदं ज्ञानमयमा-त्मेति सज्ञयाभेदः। ज्ञानात्मनाविति सख्याया भेदकथनम्। तदुक्त श्रीसमन्त-भद्रस्वामिभिः—

'संज्ञासंख्यादिभेदाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादि भेदाच्च तन्नानात्व न सर्वथा'॥

तथा ज्ञानात्मनोर्भेदोऽप्युक्त·—

'ज्ञानादर्थान्तरं नात्मा तस्माज्ज्ञानं न चापिन।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कथ्यते॥'

तथा दृग्ज्ञानगुणात्मकत्वं न तत्रासिद्धं सिद्धे च प्रधानगुणद्वये मुक्ता-त्मनि तदेवानेकगुणीभवतीत्युदीरयन्त. प्राहुः। प्राप्तवन्तौ गतौ। किम् ? बहुत्वं नानात्वम्। कौ ? तावेव दृष्टिज्ञानगुणावेव। कस्मात् ? उत्कर्ष-भावात् परमप्रकर्षप्राप्तेः। कया ? विविधविधितया नानाकार्यरूपतया। याति गच्छति। कम् ? अन्तर्भावमन्तर्भवनम् प्रवेशनम्। कस्मिन् ? प्रकृतगुणयुगे दर्शनज्ञानयुगले। कः ? वर्गः समूहः। किंभूतः ? सौक्ष्म्य-अद्धावगाहागुरुलघुगुणताबाध्यताद्यः। सूक्ष्मस्य भावः सौक्ष्म्यं द्विविध-मन्त्यमापेक्षिकञ्च। तत्रान्त्यं परमाणूनामापेक्षिकं विल्वामलकादीनाम्।

द्विविधमपि तत्तत्रासंभाव्यं सूक्ष्मत्वं मुक्तात्मन्यमूर्त्तत्वमेवेति । श्रद्धाक्षायिक-सम्यक्त्वम् । अवगाहनमात्मप्रदेशव्यापित्वं तद्द्विःप्रकारमुत्कृष्टजघन्यभेदात् । तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनु.शतानिपञ्चविशत्युत्तराणि जघन्यमर्द्धचतुर्थारत्नयो देशो वा (देशोनाः) शून्य (अन्य) विकल्प एतस्मिन्नवगाहे सिध्यति । अगुरुलघुगुणता यत्रादित्यतूलवन्नातिलाघव नाप्ययस्पिण्डवद्गौरवं वा सा । अबाध्यता क्षुद्दु:खादिपीडितत्वं बाध्यता तस्याभावोऽबाध्यता । एतासां द्वन्द्वः सा आद्या यस्यानन्तवीर्यादिः सः । ननु विरुद्धमिदम् । कथम् ? एतस्मिन् गुणद्वये सूक्ष्मादिगुणानामन्योऽन्यविरुद्धानामन्तर्भावविभावन-मितिचेन्न । एकस्याप्यनेकात्मकत्वेन प्रतीपमानत्वात् । तथाह्यात्मतत्त्व-स्यैकस्यापि ससारिदशायां सुखदुःखहर्षामर्षाद्यात्मकतायाः स्वंसवेदना-ध्यक्षेणोपलभ्यमानत्वात् । तथानुमानादप्येकस्यानेकात्मकत्वमुपलभ्यते । तथाहि मुक्तात्मानेकसम्यक्त्वादिगुणात्मकोऽनेकत्वेनोपलभ्यमानत्वात् । यदनेकत्वेनोपलभ्यमानं तदनेक यथा मेचकमणिः । अनेकत्वेनोपलभ्य-मानत्व (श्च) मुक्तात्मा तस्मादनेकः । नचोपलम्भे विरोधोऽनुपलम्भ एव विरोधाभिधानमिति । तस्मान्न कोऽपि विरोधः । किंभूतः ? कश्चिदपि सहानवस्थानलक्षणो यथा शीतोष्णयोस्तथा न परस्परपरिहारस्थिति-लक्षणो यथा वाय्वातपयोः । तथा न वध्यघातकलक्षणो यथा नागन-कुलयोरिति । सम्यक्त्वज्ञानदर्शनानन्तवीर्याव्याबाधागुरुलघुसूक्ष्मत्वावगाह-गुणाश्रयणादष्टविकल्पैर्विकल्प्यस्तथा क्षेत्रादिभिर्द्वादशभिरनुयोगैः साध्याः प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहात् (नुग्रहतन्त्र) तत्र नयद्वयविवक्षावशात् । यथा क्षेत्रेण तावत्कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति ? प्रत्युत्पन्नग्राहिनयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रदेशे आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति । भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु संहरण प्रति मानुषे क्षेत्रे सिद्धिः (कालेन) । कस्मिन् काले सिद्धि. ? प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकस्मिन् समये सिध्यन् सिद्धो भवति भूतप्रज्ञापन्नयापेक्षया जन्मनोऽविशेषेणोत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जीवः (जात) सिध्यति । विशेषेणावसर्पिण्यां सुषमदुःषमाया अन्त्येभागे दुःषम-

सुषमायां च जातः सिध्यति ननु दुःषमायां जातो दुषमायां सिध्यति। अन्यदा नैव सिध्यति। संहरणतः सर्वस्मिन्काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्याञ्च सिध्यति। गत्या कस्यां गतौ (सिद्धि)? सिद्धिगतौ मनुष्यगतौ वा सिद्धिः। लिङ्गेन(केन) सिद्धिः। (अ) वेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न तु द्रव्यतः। (द्रव्यतः) पुल्लिङ्गेनैव सिद्धिः। तीर्थसिद्धिर्द्वेधा तीर्थकरेतर-विकल्पात्। इतरे द्विविधाः सति तीर्थकरे सिद्धा असतिचेति। चारित्रेण केन सिध्यति ? अव्यपदेशेनैकचतुःपञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धिः। स्व-शक्ति परोपदेश निमित्तज्ञानभेदात्प्रत्येकबुद्धबोधितविकल्पाः। ज्ञानेनैकेन द्वित्रिचतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैः सिद्धिः। किमन्तरम् ? सिध्यतामन्तरं जघन्येन द्वौ (समयौ) उत्कर्षेणाष्टौ। अन्तरं जघन्येनैकसमय उत्कर्षेण षण्मासाः। संख्या—जघन्येनैकसमये एकः सिध्यति उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः। क्षेत्रादिभेदभिन्नानां परस्परतः संख्या (वि) शेषोऽल्पबहुत्वम्। तद्यथा प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। भूत पूर्वा-पेक्षया तु चिन्त्यते। क्षेत्रसिद्धा द्विविधा जन्मतः संहरणतश्च। तत्राल्पाः संहरणसिद्धाः। जन्मसिद्धाः संख्येयगुणाः। क्षेत्राणां विभागः कर्मभूमि-रकर्मभूमिः समुद्र-द्वीप-ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति। तत्र स्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धाः। अधोलोकसिद्धाः संख्येयगुणाः। तिर्यग्लोक सिद्धाः संख्येयगुणाः। सर्वतः स्तोकाः समुद्रसिद्धाः। द्वीपसिद्धाः संख्येयगुणः। एवं तावदविशेषेण सर्वतः स्तोका लवणोदसिद्धाः। कालोदसिद्धाः सख्येयगुणाः। जम्बूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। एवं कालाद (दि) विभागेऽपि यथागममल्पबहुत्वं वेदि-तव्यमिति। धातकीखण्ड सिद्धाः संख्येय गुणाः। पुष्करार्धं सिद्धाः संख्येयगुणः। शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षयैकत्वं सद्व्यवहारनयापेक्षयानेकत्व-मित्येकत्वानेकत्वं मुक्तात्मनि न विरुद्ध मित्यवधारितवृत्तसंहत्यर्थः ॥३६॥

इस प्रकार विस्तार से सिद्ध जीवों के गुणों का उल्लेख कर अब सक्षेप से उनका उल्लेख करते है

१. अवगाहनापेक्षया पूर्वमुक्तमत्रैव टीकायाम्

वस्तु-तत्व का निर्णय करने वाले ऋषियो ने जीव मे ज्ञान और दर्शन ये ही दो गुण मुख्य रूप से कहे है। नाना प्रकार के उत्कर्ष को पाकर ये ही अनेकरूपता को प्राप्त हो जाते है। सूक्ष्मत्व, सम्यक्त्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्या-बाधत्व आदि गुण इन्ही दो प्रकृत गुणो—ज्ञानदर्शन मे अन्तर्भूत हो जाते है। इनके सिवाय अन्य गुणो का कोई भी समूह आत्मा मे नही है।

विशेपार्थ—यद्यपि आत्मा मे अनेक गुण विद्यमान है परन्तु उनमे ज्ञान और दर्शन ये ही दो गुण मुख्य है अन्य समस्त गुण इन्ही मे अन्तर्भूत हो जाते है यही कारण है कि आगम मे जीव का लक्षण ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ही बतलाया है। स्वपरावभासी होने से ज्ञान और दर्शन गुण को मुख्य गुण माना है। ज्ञानगुण का विपरीताभिनिवेश से रहित जो परिण-मन है वही श्रद्धा कहलाती है। जीव के असख्यात प्रदेशो मे विद्यमान ज्ञानगुण की जो स्वरूपावस्थिति है वही अनन्त वीर्य है। ज्ञान गुण की जो बहिरिन्द्रियावेद्यत्व अवस्था है वही सूक्ष्मत्व गुण है। ज्ञान गुण की जो एक रूपता है वही अवगाहनत्व है, उच्च-नीचता के व्यवहार से रहित ज्ञान गुण की जो दशा है वही अगुरुलघुत्व है, विषय जन्य सुख दु खानुभव से रहित ज्ञान-गुण की जो परिणति है वही अव्याबाधत्व गुण है। इस प्रकार ज्ञान दर्शन के सिवाय जिन अन्यगुणो का वर्णन किया जाता है वे सब ज्ञान दर्शन के भीतर ही अन्तर्भूत हो जाते है।

ज्ञान-दर्शन गुण है और आत्मा गुणी है। इनमे प्रदेश भेद नही है इसलिये ज्ञान दर्शन तथा आत्मा मे अभेद है। परन्तु आत्मा गुणी है ज्ञान-दर्शन गुण है, इस प्रकार सज्ञा सख्या आदि की विभिन्नता से भेद है। स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेकर जहाँ जैसी विवक्षा है वहाँ भेद अभेद की वैसी योजना कर लेनी चाहिये। गुण और गुणी सर्वथा भिन्न ही रहते है. ऐसा नैयायिक मानते है, परन्तु कथचित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानते है।

इस श्लोक की सस्कृत टीका मे टीकाकार ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ का आश्रय लेकर क्षेत्र काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र प्रयेत्क बुद्ध बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, सख्या और अल्प बहुत्व रूप अनुयोगो के द्वारा सिद्धपरमेष्ठी मे विशेषता का वर्णन किया है। इसका यद्यपि मूल पद्य के साथ कुछ भी सम्बन्ध नही है तथापि ज्ञान वृद्धि के लिये यहाँ भी लिखते है

प्रश्न—क्षेत्र की अपेक्षा किस क्षेत्र में जीव सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—प्रत्युत्पन्न ग्राहीनयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्र मे, अपने आत्मप्रदेश मे अथवा आकाश प्रदेश मे और भूतग्राहीनयकी अपेक्षा जन्म के पाच भरत, पाँच, ऐरावत, और पाच विदेह इन पन्द्रह कर्म भूमियो मे तथा संहरण के प्रति अढाई द्वीप में सर्वत्र सिद्ध होते है।

प्रश्न—काल की अपेक्षा किस काल में सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा एक समय मे और भूतं ग्राही नय की अपेक्षा सामान्यतया उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी

मे उत्पन्न हुए जीव सिद्ध होते है। विशेषतया अवसर्पिणी के सुषम-दु षम काल के अन्तिम भाग मे तथा दुषम-सुषम काल मे उत्पन्न हुए जीव सिद्ध होते है। दु षमकाल मे उत्पन्न हुए जीव सिद्ध नही होते यह जन्म की अपेक्षा कथन है। संहरण की अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सभी कालो मे सिद्ध होते है।

प्रश्न—गति की अपेक्षा किस गति मे सिद्ध होते है। ?

उत्तर—सिद्ध गति अथवा मनुष्य गति मे सिद्ध होते है।

प्रश्न—लिङ्ग की अपेक्षा किस लिङ्ग से सिद्ध होते है ?

उत्तर—किसी भी वेद से नही अथवा तीनो वेदो से। यह कथन भाव वेद की अपेक्षा है, द्रव्य वेद की अपेक्षा नही। द्रव्य वेद की अपेक्षा मात्र पुवेद से ही सिद्ध होते है—

प्रश्न—तीर्थ की अपेक्षा किस तीर्थ से सिद्ध होते है ?

उत्तर—तीर्थ-सिद्धि का व्याख्यान दो प्रकार का है। तीर्थ-कर होकर सिद्ध होना और सामान्य मनुष्य होकर सिद्ध होना। जो मनुष्य तीर्थकर होकर सिद्ध होते है वे तीर्थ सिद्ध कहलाते है और जो सामान्य मनुष्य होकर सिद्ध होते है वे इतर सिद्ध कहलाते है। इतर सिद्धो मे कोई जोव तीर्थकर के रहते हुए सिद्ध होते है और कोई तीर्थकर के मोक्ष चले जाने के बाद उनके तीर्थ मे सिद्ध होते है।

प्रश्न—चारित्र की अपेक्षा किस चारित्र से सिद्ध होते है ?

उत्तर—प्रत्युत्पन्नग्राही नय की अपेक्षा एक यथाख्यात-चारित्र से और भूतग्राहीनय की अपेक्षा कोई सामायिक

छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय तथा यथाख्यात इन चार चारित्रो से तथा कोई परिहारविशुद्धि रूप पाच चारित्रो से सिद्ध होते है।

प्रश्न—प्रत्येकबुद्ध का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो जीव पूर्व भव के सस्कार वश किसी के उपदेश के विना स्वयमेव दीक्षित होकर मोक्ष प्राप्त करते है उन्हे प्रत्येक बुद्ध कहते है।

प्रश्न—बोधित-बुद्ध का क्या अर्थ है ?

उत्तर—पूर्वभव का सस्कार न होने से जो वर्तमान पर्याय मे ही किसी का उपदेश पाकर विरक्त हो मोक्ष प्राप्त करते है वे बोधित-बुद्ध कहलाते है।

प्रश्न—ज्ञान की अपेक्षा किस ज्ञान से सिद्ध होते है ?

उत्तर—प्रत्युत्पन्नग्राही नय की अपेक्षा एक केवलज्ञान से और भूतप्रज्ञापन-नय की अपेक्षा दो, तीन अथवा चार ज्ञान से सिद्ध होते है।

प्रश्न—अन्तर कितना है ?

उत्तर—कम से कम एक समय और अधिक से अधिक ६ माह।

प्रश्न—एक समय मे कितने जीव सिद्ध होते है ?

उत्तर—कम से कम एक और अधिक से अधिक एक सौ आठ।

प्रश्न—अल्प बहुत्व का क्या मतलव है

उत्तर—क्षेत्रादि के भेद से भिन्नता को प्राप्त सिद्ध जीवों

मे परस्पर की सख्या मे जो विशेषता है उसे अल्प बहुत्व कहते है। वह इस प्रकार है—

प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सब जीव सिद्धि क्षेत्र मे ही सिद्ध होते है अत उनमे अल्प-बहुत्व नही है परन्तु भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा विचार करते है। क्षेत्र सिद्ध दो प्रकार के है जन्म सिद्ध और सहरण सिद्ध। इनमे संहरण सिद्ध अल्प है और जन्म-सिद्ध उनमे सख्यात गुणित है। कर्मभूमि, अकर्मभूमि समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्व अध और तिर्यक् मे सब क्षेत्रों के विभाग है। इनमे ऊर्ध्व लोक से सिद्ध होने वाले सिद्ध जीव अल्प है, अधोलोक सिद्ध उनसे सख्यात गुणित है, तिर्यक् लोक सिद्ध उनसे भी सख्यात गुणित है। समुद्र सिद्ध सबसे अल्प है द्वीप सिद्ध उनमे सख्यात गुणित है, लवणोद सिद्ध सबसे थोडे है। कालोद सिद्ध उनसे सख्यात गुणित है। जम्बूद्वीप सिद्ध उनसे संख्यात गुणित है। धातकीखण्ड सिद्ध उनसे सख्यात गुणित है और पुष्करार्ध सिद्ध उनसे भी सख्यात गुणित है इसी प्रकार कालादि अनुयोगो से भी सिद्ध जीवो का अल्प-बहुत्व आगम से जानना चाहिए ॥३९॥

ननु केयं मुक्तिः ? स्वात्मरूपोपलब्धिः 'सिद्धि. स्वात्मोपलब्धि.'—रित्यभिधानात्। सा च कृतस्नकर्म विश्लेषात्सर्व सद्वादिनां सम्मतेति सकलास्तिकसौवस्तिकसौवस्तिकानां मुक्तिस्वरूप विवादाभाव दर्शयति। अथ केषाञ्चिद्बुद्धादीनामध्यात्मस्वरूपे कर्मस्वरूपे च विवादात्स च प्रागेव निरस्तोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयस्य सिद्धत्वस्य चात्मस्वरूपस्य च प्रमाणसिद्धत्वात्। नह्यचेतनत्वमात्मनः स्वरूपं तस्य ज्ञान समवायित्वविरोधादाकाशादिवत्। प्रतीयते च ज्ञानमात्मनि ततस्तस्य नाचैतन्यस्वरूपम्।

चैतन्यमात्रमेवात्मनः स्वरूपमित्यप्यनेनापास्तं ज्ञानस्वभावरहितस्य चेतनत्वविरोधादनङ्गनादिवत्। प्रभास्वरमिदं चित्तमिति स्वसंवेदनमात्रं चित्तस्य स्वरूपं वदन्नपि सकलार्थविषयज्ञानसाधनान्निरस्तः स्वसंविन्मात्र-वेदनेन सर्वार्थसाक्षात्करणविरोधात्तदेवंप्रवादिपरिकल्पितात्मस्वरूपस्य प्रमाणबाधितत्वादनेकान्तवादिनिर्णीतमेवानन्तचतुष्टयादिस्वरूपमात्मनो व्यवस्थां प्राप्नोतीति तस्मात्तस्यैव लाभो मुक्तिः सिद्धयेन्नपुनरात्महानि-रिति बुद्धेर्नहिप्रमाणसिद्धत्वात्। तथा च कर्मस्वरूपे विवादः कर्मवादिनां कल्पनाभेदात् स च पूर्वमेव निरस्त इत्यर्थोऽलं विवादेनेत्यावेदयन्तोऽध्यात्म-रुचिकर्मन्हिवृन्दकुमुदकदम्बकमोदसोमदेवाः सोमदेवाः सूरयो मुक्तावित्याद्यु-दितिवंत.—

मुक्तौ नापूर्वमाप्यं किमपि सुकृतिभिश्चेतितामात्मरूप—
प्राप्तिं प्राहुः प्रणीताखिलनिगमनयाः केवलज्ञानभाजः।
सूक्ष्मा तेषां जिनेन्द्रोदितमतमहितज्ञानसाम्राज्यसंपत्—
संपन्नाः सर्वसत्वोत्पलविपिनमुदे सोमदेवाश्च साक्षात् ।।४०।।

।। इति सोमदेवाचार्यप्रणीताध्यात्मतरङ्गिणी समाप्ता ।।

नाप्यं न प्राप्यम्। किम्? किमप्यनुभूयमानम्। किं भूतम्? अपू-र्व्वम्। नयप्रमाणसंवादमस्पृशन्तीभिर्वाणीभिः प्रवादितीर्थंकरम्मन्योपकल्पितं 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। तच्च ज्ञेयाकारपरिच्छेदपराङ्मुखम्।' तत्स-दप्यसदेव निराकारत्वादिति तथा 'बुद्ध्यादिवैशेषिक गुणोच्छेदः पुरुषस्य मुक्तिरूप' मिति च। तदपि परिकल्पनमसदेव। विशेषलक्षण शून्यस्यावस्तु-त्वात्। तथा प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणमिति च। तस्य खरविषाण (वत्) कल्पना तैरेवाहत्य निरूपितेत्येवमादि। न च (तत्साधु) कुतः। न हि प्रेक्षापूर्वकारी निजगुणहान्यर्थं स्वविनाशार्थं वा यततेऽप्रेक्षापूर्वकारि-ताप्तेरिति तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालङ्कारे निर्णीतप्रायम्। कस्याम्? मुक्तौ सिद्धौ। कैः सुकृतिभिर्लोकातिशायिपरमपुण्यनायकैः। यदिह्य तदेत-

द्रूपिणी न सदृश्येवेति प्राहुः प्ररूपयन्ति। काम् ? तां मुक्तिम्। काम् ? आत्मरूपप्राप्तिम् निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्काऽकायाचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणाव्याबाधसुखोत्पत्तिका वस्थान्तरजन्तुस्वभावावाप्तिमित्यर्थः। के ? केवलज्ञानभाजः त्रिभुवनाभुवनभूतभवद्भविष्यत्कालभवत्प्रतिक्षणभावाभावध्रुवस्वभावचेतनाचेतनभावावभासिकैवल्यावबोधात्मका इत्यर्थः। किंभूताः ? प्रणीताखिलनिगमनयाः प्रणीताः कथिता अखिला सकला निगम्यन्ते निश्चीयन्ते जीवाजीवादितत्त्वानि यत्र स निगमोऽर्थग्रहेत्यादिना च परमागम इत्यर्थः। स च नीयते प्राप्यते सत्त्वासत्त्वाव्यापित्वाव्यापित्वद्रव्यत्वाद्रव्यत्वादिवस्तुधर्मो यैस्ते नया द्विविधा द्रव्यनया. पर्यायनयाश्च। तत्र द्रव्यनयस्त्रिविधिः पर्यायनयश्चतुःप्रकारः यस्तैः प्रणीतः। कथंचिदपौरुषेयपौरुषेयद्रव्यपर्यायात्मक स्यादस्तीत्यादि सप्तभङ्गीभङ्गुरजीवादिभावाभिधायकपरमागमन्योन्यापेक्ष नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र शब्दसमभिरूढैवंभूता नया इत्यर्थः। भवति। का ? सा सूक्ष्माऽमूर्ता क्षेत्रचरानन्तवीर्यवक्त्रा दृग्ज्ञाननेत्राऽगुरुलघुगुणाभोगोत्तुङ्गस्तनयुग्माऽव्याबाधोरुगभीरनाभिमध्याऽग्रावगाहोरूवराङ्गाऽनङ्गानङ्गनामुक्तिरित्यर्थ. केषाम् ? तेषाम्। ते के ? ये जिनेन्द्रोदितमतमहितज्ञानसाम्राज्यसपत्संपन्ना नानोग्रभवदुग्र व्यसन प्रापणकारणान् कर्मारातीन् जयन्तीतिजिनास्तेषामिन्द्रः स्वामी तेनोदितं कथित च तन्मतं द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वव्यवस्थितानेकशास्त्रं तत्र महितं पूजितं च तत् ज्ञानं तस्य साम्राज्यं सम्राट्त्वं तस्य संपल्लक्ष्मीः सा संपन्ना प्राप्ता यैस्ते जिननाथाभिहितसमयसाराद्यध्यात्मशास्त्रार्चितबोधसार्वभौमपद्मेश्वराय इत्यर्थः। पुनः किं भूताः ? सर्वसत्वोत्पलविपिनमुदे सोमदेवाश्च ये। सर्वे समस्ता. सत्त्वा एकेन्द्रियादिप्राणिनस्त एवोत्पलवनं कैरवकक्ष तस्य मुद्धर्षस्तस्यै मुदे। सोमदेवा। अथवा यशस्तिलकाभिधानचम्पूकथाकौस्तुभरत्नोत्पत्तिरत्नाकरैकान्तवादिवादिखद्योतचयप - राभवादित्यसद्योऽनवद्यगद्यपद्यरचनाश्चर्यितसोमदेवाः पण्डितसोमदेवा अभिधीयन्ते। निखिलजन्तुजातेन्दीवरानन्दकौमुदीदयिता एवेत्यर्थः। कथम् ?

साक्षान्नूनं निश्चितमित्यर्थः । ननु च नास्तिकान् प्रति मुक्तिस्वरूपेऽपि विवाद इति चेन्न तेषामत्रानधिकारात् । येषां प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं नास्तिकानां (ते) कथं मुक्तिनिराकरणाय प्रमाणान्तरं वदेयुः । स्वेष्टहानिप्रसङ्गाच्च । पराभ्युपगतेन प्रमाणेन मुक्त्यभावमाचक्षाणा मुक्तिसद्भावमपि किन्नाचक्षते । न चेदसत्प्रलापिनः परपर्यनुयोगपरतया । प्रलापमात्र तु महात्मना नावधेयम् । तेषामुपेक्षार्हत्तत्वतो निर्बाधैवानन्तबोधाद्यात्मिका मुक्तिरभ्युपगन्तव्या । मूर्तद्रव्यभावागमशुद्धाशुद्धनयप्ररूपणप्रवणनिखिलावबोधबन्धुरसर्वज्ञोपदिष्ट जिनैतिह्यानुगतदयादमत्यागगाङ्गेयाभरणभूषितोत्तमाङ्गकण्ठकरशाखामलशीलोज्ज्वलदुकूलविराजितनितम्बबिम्बसकलदिग्गमनसिचयोत्तरीयावृताखिलविग्रहविग्रहविनिर्मुक्तमानस द्वाविंशति परीषहचमूरीचयोच्चाटनचित्रभानुप्रभाभेदरत्नत्रयहेतिविध्वस्तसकलकर्म्मारातिसन्ततिनरोत्तमानामेव मुक्ति कामिन्यवश्यं वश्या भवतीति व्याख्यात वृत्तसंकल्पितार्थः ॥४०॥

आगे मुक्ति का स्वरूप निरूपण करते हुए उसकी विशेषता बतलाते है—

'मुक्ति मे प्राप्त करने योग्य कोई अपूर्व वस्तु नहीं है । समस्त आगम तथा नयो का प्रणयन करने वाले केवली भगवान आत्मा की उस परिणति को मुक्ति कहते हैं जिसका कि भाग्यशाली मनुष्य निरन्तर चिन्तवन करते रहते हैं । वह अत्यन्त सूक्ष्म अथवा अमूर्तिरूपमुक्ति उन जीवो को प्राप्त होती है जो कि जिनेन्द्र भगवान के द्वारा निरूपित मत से पूजित केवलज्ञानरूप साम्राज्य की सम्पत्ति से सम्पन्न है तथा समस्त जीव रूपी कुमुद वन को विकसित करने के लिए जो साक्षात् चन्द्रमा स्वरूप है' ।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान की न्यूनता तथा स्वमतस्थापन के पक्ष व्यामोह से हुण्डावसर्पिणी काल मे अनेक मत मतान्तर प्रचलित हो जाते है। यदि उन मत-मतान्तरो का वर्गीकरण किया जाय तो प्रधानता से दो वर्ग ठहरते है। प्रथम आस्तिक्य वादियों का जिन्होने कि स्वतन्त्र सत्ता मानकर इहलोक तथा परलोक की व्यवस्था स्वीकृत की है और दूसरा अनास्तिक्य वादियो का जिन्होने कि शरीर से भिन्न जीव की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकृत कर पर लोक की व्यवस्था स्वीकृत नही की है। अनास्तिक्य वादियो मे चार्वाक मत का नाम प्रसिद्ध है इस वाद मे जब जीव की ही सत्ता नही मानी गई है तब स्वर्ग मोक्ष की चर्चा कहा से आवेगी, आस्तिक्य वादियो मे साख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध आदि मत प्रसिद्ध है और उनमे मुक्ति की चर्चा की गई है। परन्तु स्याद्वाद की कसौटी पर कसने पर उनके द्वारा निरूपित मुक्तिस्वरूपरूप सुवर्ण खरा नही उतरता। साख्य कहते है कि चैतन्य पुरुष का स्वरूप है परन्तु वह ज्ञेयाकार परिच्छेद से विमुख है'। उनका यहा मुक्ति स्वरूप सत् होने पर भी असत् ठहरता है। चैतन्य पुरुष का स्वरूप है यह अश तो ठीक है परन्तु वह पदार्थ के आकार को ग्रहण नही करता यह अश ठीक नही बैठता। पदार्थ को जानना आत्मा का स्वरूप है और वह मुक्तावस्था में भी विद्य-मान रहता है। वैशेषिको ने बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सस्कार आदि विशिष्ट गुणो के उच्छेद को मुक्ति माना है। यह कल्पना भी ठीक नही बैठनी, क्योंकि किसी भी पदार्थ

के विशिष्ट अर्थात् असाधारण गुणो के नष्ट होनेपर उस पदार्थ का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। बौद्धो ने कल्पना की है कि जिस प्रकार दीपक बुझने पर वही का वही शात हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी मोक्ष प्राप्त होने पर वही का वही शांत हो जाता है—उच्छिन्न हो जाता है—उसकी सन्तति आगे नही जाती। बौद्धों की यह कल्पना खरविषाण की कल्पना के समान नि सार कल्पना है। ऐसा कोई बुद्धिमान् नही, जो अपने गुणो की हानि अथवा स्वकीय सत्ता का उच्छेद करने के लिये प्रयत्न करेगा। इत्यादि रूप से अनेक मत-मतान्तरो की चर्चा तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार मे की गई है। जैन मत मे स्वात्मोपलब्धि को मोक्ष का स्वरूप मानागया है। मोक्ष मे कोई नवीन वस्तु उत्पन्न नही हो जाती। किन्तु द्रव्य-कर्म और नोकर्म का सम्बन्ध हट जाने से आत्मा की स्वाभाविक दशा प्रकट हो जाती है। जीव की यह स्वाभाविक दशा अनादि काल से कर्मावृत हो रही है—ज्ञानावर्णादि द्रव्यकर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म और औदारिक शरीरादि नोकर्म से आवृत हो रही है। इन समस्त प्रकार के आवरणो का अभाव होने पर जीव की जो अवस्था प्रकट होती है वह आत्यन्तिक होती है, उसका कभी नाश नही होता और अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणो से प्रकाशमान रहती है। इस मुक्तिका सस्कृत टीकाकार ने अपनी काव्यमय भाषा मे वर्णन किया है। वे कहते है कि मुक्ति मानो एक अगना है, अनन्त वीर्य उसका मुख है, दर्शन उसके दोनो नेत्र हैं, अगुरुत्व-अलघुत्व गुण

उसके स्तनयुगल है, अव्याबाध गुण उसकी गम्भीर नाभि है और अवगाहना गुण उसके उरु है। यह मुक्ति अगना सूक्ष्म है—मूर्ति रहित है। इस प्रकार पुण्यशाली निकट-भव्य जीव जिसका निरन्तर चिन्तन करते रहते है आत्मा की वह सर्व विशुद्ध आत्यन्तिक अवस्था ही मुक्ति कहलाती है। यह मुक्ति द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा सदा विद्यमान रहती है परन्तु पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा सवर निर्जरा पूर्वक सर्व कर्म विप्रमोक्ष होने पर प्रकट होती है। यह मुक्ति उन्ही जीवो को सुलभ है जो सर्वज्ञ वीतराग—जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित आर्हत मत से प्रशसित-पूजित सम्यग्ज्ञान के साम्राज्य को प्राप्त कर चुकते है—स्वय केवलज्ञान हो चुका है तथा समस्त जीव रूप कुमुद वन को जो चन्द्रमा की तरह विकसित-हर्षित करते है। अपाय-विचय धर्म्मध्यान के समय सचित भाषा-वर्गणा के परमाणुओं को दिव्य-ध्वनि रूप परिणत कर प्राणीमात्र के कल्याण का उपदेश देते है। मोक्ष-प्राप्ति का यह क्रम आगम मे भी लिखा है। सर्व प्रथम मोह का और फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय का क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त होता है। केवलज्ञान प्राप्त होने के वाद कम से कम अन्तर्मुहूर्त मै और अधिक से अधिक देशोनकोटिवर्ष के वाद सवर निर्जरा पूर्वक समस्त कर्मो का विप्रमोक्ष हो जाने पर मोक्ष होता है। मुक्ति की साक्षात् प्राप्ति केवलज्ञानी को ही होती है और परम्परा से मति-श्रुत, मति-श्रुत अवधि, मति-श्रुत मन पर्यय अथवा मति-श्रुतावधि मन पर्यय ज्ञान के धारक जीवो के भी होती है।

इस अध्यात्मतरङ्गिणि ग्रन्थ के रचयिता श्री सोमदेवाचार्य है। उन्होंने श्लेपालकार के द्वारा अपना सोमदेव नाम भी ग्रन्थ के अन्तिम पद्य मे प्रकट कर दिया है ॥४०॥



टीकाकर्तुः प्रशस्तिः

श्रीसोमदेवमुनिनोदितयोगमार्गो व्याख्यात एव हि मया स्वमतेर्बलेन ।
संशोध्य शुद्धधिषणैर्हृदये निधेयो योगीश्वरत्वमचिराय समाप्तुकामैः ॥१॥

(श्री) सोमसेनप्रतिबोधनार्थं धर्माभिधानोच्चयशः स्थिरार्थाः ।
गूढार्थ संदेहहरा प्रशस्ता टीका कृताध्यात्मतरङ्गिणीयम् ॥२॥

जिनेशसिद्धाः शिवभावभावाः सुसूरयो देशकसाधुनाथा. ।
अनाथनाथा मथितोरुदोषा भवन्तु ते शाश्वतशर्मदा न ॥३॥

चञ्चच्चन्द्रमरीचिवीचिरुचिरे यच्चारुरोचिश्चये
नम्राङ्गैः सुरनायकैः सुरुरुभे देवाब्धिमध्यैरिव ।
शुक्लध्यान सितासिशासितमहाकर्म्मारिकक्षोदयो—
देयातेऽभवसभवां शुभतमा चन्द्रप्रभः सम्पदम् ॥४॥

त्रिदशवसतितुल्यो गुर्जरात्राभिधानो
धनकनकसमृद्धो देशनाथोऽस्ति देशः ।
असुरनरसुरामा शोभिभोगाभिरामो—
परदिगवनिनारीवक्त्रभाले ललामः ॥५॥

शश्वच्छ्रीशुभतुङ्गदेववसतिः संपूर्णपण्यापणा—
शौण्डीर्योद्भटवीरधीर वितता श्रीमान्यखेटोपमा ।
चञ्चत्काञ्चनकुम्भकर्णविसरैर्जैनालयैर्भ्राजिता
लङ्का वास्ति विलासशालनिलयामन्दोदरीशोभिता ॥६॥

वरवटवटपल्ली तत्र विख्यातनामा
वरविबुधसुधामा देववासोरुधामा ।
शुभसुरभिसुरम्भादेवरम्भाभिरामा
सुरवसतिरिवोच्चैरप्सरोभासमाना ॥७॥

स्फूर्जद्बोधगणैर्भवव्रतिपतिर्वाचं यमः संयमी
जज्ञे जन्मवतां सुपोतममलं यो जन्मयादोविभोः।
जन्यो यो विजयी मनोजनृपते र्जिष्णोर्जगज्जन्मिनाम्।
श्रीमत्सागरनन्दिनामविदितः सिद्धान्तवार्धे विधुः॥८॥

स्याद्वादसात्मकतपोवनितालालामो भव्यातिसस्यपरिवर्धननीरदाभः।
कामोरुभूरुहविकर्तनसंकुठारस्तस्माद्विलोभहननोऽजनि स्वर्णनन्दी॥९॥

तस्माद्गौतममार्गगो गुणगणैर्गम्यो गुणिग्रामणी—
र्गीतार्थो गुरुसङ्गनागगरुडो गीर्वाणगीर्गोचरः।
गुप्तिग्रामसमग्रतापरिगतः प्रोग्रग्रहोद्गारको
ग्रन्थग्रन्थिविभेदको गुरुगमः श्रीपद्मनन्दी मुनिः॥१०॥

आचार्योचितचातुरीचयचितश्चारित्रचञ्चुः शुचि—
श्चार्वीसंचय चित्रचित्ररचनासंचेतनेनोच्चकैः।
चित्तानन्दचमत्कृतिप्रविचरन्प्राञ्चत्प्रचेतोमतां
प्राभूच्चारुविचारणैकनिपुणः श्रीपुष्पदन्तस्ततः॥११॥

समभवदिह चातश्चन्द्रवत्कायकान्ति—
स्तदनु विहितबोधो भव्यसत्कैरवाणाम्।
मुनिकुवलयचन्द्रः कौशिकानन्दकारी
निहततिमिरराशिश्चारुचारित्ररोचिः॥१२॥

तस्मात्तीव्रमहातपस्तपनकृत्तेजः प्रतप्तान्तरं
कर्म्मोतुङ्ग तडागतारलहरीतोय तरां शोषितम्।
रत्यामाचरणे शुचौ रतिपतिर्येनोत्पतङ्गीकृतः
कीर्त्या शारदनीरदेन्दुसितया श्वेतीकृताशामुखः॥१३॥

भवभयपरिभावी भव्यराजीवबन्धु—
र्मतमित हितवादी बुद्धिवादावनन्दी।
गुणिगणधरकीर्तिः कोविदानन्दहेतुः
समजनि जनपूज्यो वन्दिवृन्दाभिवन्द्यः॥१४॥

आसन्नभव्यशुभसस्यविभूतिकर्त्रीं सारार्थदेशनपरा चिरमेघमालाम् ।
सार्द्रान्तरः ससमयो निखिलाशपूरस्तस्तार यद्वदिह तद्वदिमां सुटीकाम् ॥१५॥
तथ्यात्माद्यर्थ सवादाध्यात्मामृततरङ्गिणीम् ।
सोमदेवध्यानविधौ गणधरकीर्तिर्व्यधात् ॥१६॥
एकादशशताकीर्णे नवाशीत्युत्तरे परे ।
संवत्सरे शुभे योगे पुष्यनक्षत्र संज्ञके ॥१७॥
चैत्रमासे सिते पक्षेऽथपञ्चम्यां रवौ दिने ।
सिद्धा सिद्धिप्रदा टीका गणभृत्कीर्तिविपश्चितः[1] ॥१८॥
निस्त्रिंशतर्जितारातिविजयश्रीविराजिनि ।
जयसिंहदेवसौराज्ये सज्जनानन्ददायिनि ॥१९॥
यावज्जैनं शासनं शासनानां जीवादीनां स्यादनेकात्मकानाम् ।
यावद्यौर्गोगोपति र्यावदाशाःस्थेयाट्टीका तावदेषा जगत्याम् ॥२०॥

हिन्दी टीकाकार प्रशस्ति

गल्लीलालो जन्मदाता यदीय, पारग्रामो जन्मभूमिर्यदीया ।
पन्नालालः क्षुद्रबुद्धिः स चाह टीकामेता स्वल्पबुद्ध्या चकार॥१॥
नवसप्तचतुर्युग्म-वीराब्दे चैत्रमासके ।
कृष्णपक्षे वसन्तर्तौ त्रयोदशां तिथौ तथा ॥२॥
शुक्रवाराभिधे वारे, राष्ट्रभाषामयीमिमाम् ।
टीका चकार भूयात् सा, मुदेभव्याङ्गि सन्तते. ॥३॥

---

१. पिपाश्चिता ख० ।